122

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए० शास्त्री

रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०१५, अगस्त १९५८

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर
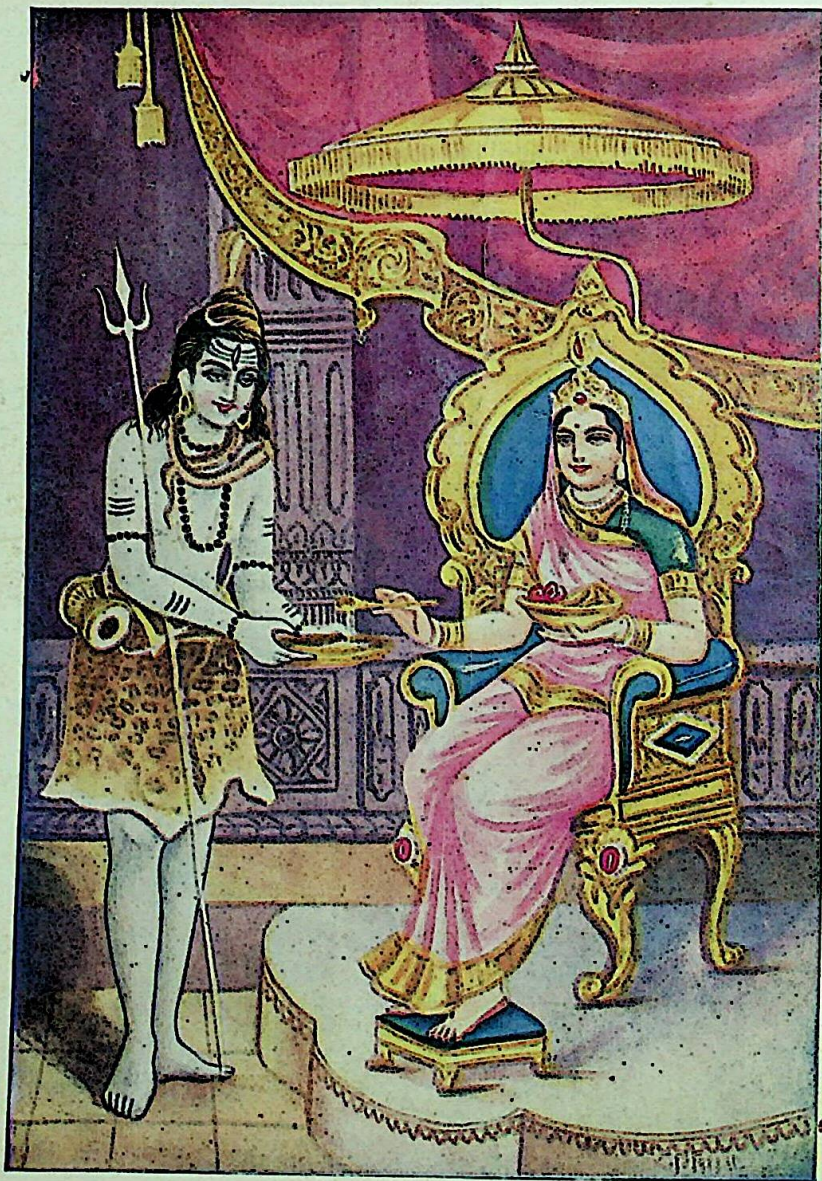
श्रीअन्नपूर्णाजी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०१५, अगस्त १९५८ { संख्या ८ पूर्ण संख्या ३८१

जगजननी अन्नपूर्णा

जय भवभामिनि जय भवतोषिणि जय जगपोषिणि जननी जय !
जय मधुमालिनि जय जगपालिनि वैभवशालिनि जननी जय !
जय सुखदायिनि वाञ्छितदायिनि मंगलदायिनि जननी जय !
जय अघनाशिनि विघ्नविनाशिनि अन्नपूर्णा जननी जय !

याद रक्खो—तुम संसारमें सुख-भोग करना चाहते थे, पर नहीं कर सके। संसार ही तुम्हारा ग्रास कर रहा है। चाहते थे, शान्ति प्राप्त होगी, पर नहीं मिली, सारा जीवन संतापमें ही बीत रहा है। कालपर भी कुछ वश नहीं चला, प्रतिक्षण काल ही तुम्हें मृत्युके द्वारकी ओर घसीटे लिये जा रहा है। विषय-तृष्णा जरा भी जीर्ण नहीं हुई, तुम्हीं जीर्ण हो गये हो। धन, जन, मान, रूप, यौवन सभी चले जा रहे हैं। इनको तुम रोक नहीं सकते।

याद रक्खो——नयी-नयी आशाओंकी पूर्तिकी मिथ्या प्रतीक्षामें तुम्हारा जीवन व्यर्थ चला जायगा। चिन्ताओंसे जलते रहोगे। आशाएँ कभी पूरी होंगी ही नहीं।

याद रक्खो—भगवान्‌के सिवा, यह संसार सदा दुःखमय है। जन्ममें दुःख, जीवन-धारणमें दुःख, मृत्युमें दुःख। बीमारी, बुढ़ापा, अशान्ति, दुराशा, दुश्चिन्ता, हाहाकार, प्रमाद——यही तो जीवन है। इससे जबतक वैराग्य नहीं होगा, तबतक संसारकी भीषण ज्वालासे जलते ही रहोगे।

याद रक्खो—भोगमें सदा ही विनाशका भय लगा है और वैराग्य सदा निर्भय है। भोगमें दासत्व है, वैराग्यमें स्वाधीनता है। वैराग्य रूखा नहीं है, उसमें एक विशेष प्रकारका संतोष-रस है। वैराग्य हृदयको सूनी और सूखी मरुभूमि नहीं बना देता, उसे संतोष-सुधासे सरस बनाकर शान्त——तृप्त कर देता है और भगवदनुरागके सुन्दर रंगसे रँग देता है।

याद रक्खो—वैराग्य न तो धोखा है, न पलायनी-(भगा देनेवाली) वृत्ति है। वैराग्य भक्तके मनको भगवदनुरागसे भर देता है। वैराग्यसे अनुरागकी प्रगाढ़ता होती है। वैराग्य भगवदनुराग-रसपानमें लगाता है और उसके बाधक विषयरसपानमें विरक्ति और उपरति उत्पन्न करता है।

याद रक्खो—इस लोक और परलोकके देखे या सुने हुए सभी भोगोंमें वितृष्णा या सर्वथा स्पृहारहित हो जानेका नाम वैराग्य है।

याद रक्खो—जैसे रात्रि और सूर्य एक समय एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही भोगानुराग और भगवदनुराग एक साथ नहीं रह सकते। भगवदनुरागके लिये विषय-वैराग्य अत्यावश्यक है और विषय-वैराग्यसे भगवान्‌में रागका उदय होता है।

याद रक्खो—वैराग्य दो प्रकारका है——अपर-वैराग्य और पर-वैराग्य। भोगोंमें दुःख-दोष देखकर जो उनके प्रति मनमें विरक्ति आती है, उसका नाम 'अपर-वैराग्य' है और सत्यस्वरूप परमात्माके साक्षात्कार या भगवत्प्रेमसे जो असार वस्तुओंके प्रति सहज विराग होता है, वह 'पर-वैराग्य' है।

याद रक्खो—विषयोंमें दुःखबुद्धि, मलबुद्धि, विष-बुद्धि होनेपर उनका जो त्याग होता है, वह 'अपर-वैराग्य' होनेपर भी बहुत ऊँचा होता है। उस त्यागमें त्यागका अभिमान तो होता ही नहीं, बुरी वस्तुसे पिंड छूटा——यह आश्वासन होता है। जहाँ त्यागका अभिमान है तथा जिस वस्तुका त्याग किया है, उसके प्रति महत्त्व बना हुआ है, वहाँ यथार्थ वैराग्य नहीं है। बाह्य-त्यागका नाम वैराग्य नहीं है। बाह्य-त्याग तो मान-बड़ाईके लिये भी हो सकता है।

याद रक्खो—अनासक्ति ही वैराग्य है। आसक्ति मनमें रहती है अतएव उसका त्याग भी मनसे ही होता है। यथार्थ आध्यात्मिक प्रगतिके लिये यह अनासक्ति अत्यावश्यक परम साधन है।

'शिव'

ईश्वर एवं धर्म-भावनाकी आवश्यकता

(पूज्यपाद १००८ श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराजके एक भाषणके आधारपर*)

संसारमें मानव-जन्म बड़ा दुर्लभ है। उस आप्तकाम परम निष्काम पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान्की परम कृपासे ही इसकी प्राप्ति होती है। इसीके द्वारा इस अपार संसार-समुद्रसे पार उतरा जा सकता है। उस अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डनायक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक प्रभु-को प्राप्त किया जा सकता है। सारांश इतना ही कि इस संसार-समुद्रको पार कर लेना एवं परब्रह्म-साक्षात्कार कर लेना ही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है। भले ही हमें अनन्त धन-धान्य मिल जायँ, अनेकविध भोग-विलास-सामग्री उपलब्ध हों, सर्वविध लौकिक उन्नतिके साधन प्राप्त हों; परंतु यदि मानवदेह प्राप्त करके भी भगवान्को पहचाननेका प्रयत्न नहीं किया तो सब व्यापार निरर्थक ही कहे जा सकते हैं।

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वरने अपनी अघटितघटनापटीयसी सर्वशक्तिमयी महामायाद्वारा इस विविधवैचित्र्योपेत विश्वका निर्माण किया। नानाविध रंगोंसे युक्त मयूर बनाया, विलक्षण हरे रंगका शुक निर्माण किया, अनुपम श्वेत धवल एवं स्वच्छ पंखवाला हंस बनाया, सुमधुर कण्ठवाली कोकिला-का निर्माण किया, असीम बलशाली व्याघ्र बनाया। सारांश, विविध प्रकारके विचित्र-विचित्र प्राणियोंको उत्पन्न किया, परंतु तो भी प्रभुको संतोष न हुआ। तब भगवान्ने मनुष्य बनाया और तदुपरान्त ही प्रभुको संतोष हुआ 'पुरुषं विधाय मुदमाप देवः।' परंतु ऐसा क्यों ? इसीलिये कि मनुष्य ही अपनी बुद्धिद्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करने योग्य है। व्याघ्र बल-पराक्रममें बड़ा हो सकता है, कोकिलाके कलकण्ठकी मनुष्य चाहे बराबरी न कर सके, शुककी हरीतिमा, हंसकी उज्ज्वल श्वेतता एवं मयूरपिच्छकी नानाविध रंगीनताके समक्ष मनुष्य चाहे पीछे रह सकता है; परंतु जब ब्रह्म-साक्षात्कार एवं ब्रह्मलोकादिकी प्राप्तिका प्रश्न उपस्थित होगा, तब ये सब मौन रह जायँगे। वहाँ केवल मनुष्यकी ही गति है।

ब्रह्मलोक अथवा स्वर्गादिमें पहुँचकर भी ब्रह्म-साक्षात्कार अतिदुर्लभ है। वहाँ चिति-चैत्य, आत्मा-अनात्मा, भास्य-भासक, दृक्-दृश्यका पृथक्-पृथक् ज्ञान तो है; परंतु वह ठीक इसी प्रकार दीखता है जैसे मलिन जल अथवा चञ्चल जलमें अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दीखता। ब्रह्मादि लोकोंमें भोगविलास सुख-सामग्री तो बहुत उपलब्ध है; परंतु उनसे वैराग्य नहीं हो पाता। फलतः वहाँ पहुँचकर ब्रह्मसाक्षात्कारकी तीव्र पिपासाका होना नितान्त असम्भव है। अतएव इसी दुर्लभ मानव-जीवनमें ही असार संसारसमुद्रसे पार हो जानेका प्रयत्न मनुष्यमात्रको अवश्य कर लेना चाहिये, अन्यथा पश्चात्तापके अतिरिक्त अन्य कुछ हाथ नहीं लगेगा।

एक बार इन्द्र एवं विरोचन ब्रह्माजीकी शरणमें गये। बत्तीस वर्षतक अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर तपस्या की। ब्रह्माजी प्रकट हुए और उन्हें उपदेश दिया कि दक्षिण नेत्रमें जो दीखता है, वही ब्रह्म है। इसपर प्रश्न किया कि दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब है, वह भी आत्मा है क्या ? ब्रह्माजीने कहा—'शकोरेमें पानी भरकर उसमें देखो।' वैसा करनेपर बोले—'इसमें तो प्रतिबिम्बरूपी ब्रह्मके आँख, नाक, कान एवं दाढ़ी सभी कुछ हैं।' ब्रह्माजीने कहा—'इसे मुड़ा दो।' ऐसा करनेपर तदनुसार

* गत ता० ३१।५।५८ को सनातनधर्म-सभा मेरठमें स्वामीजी महाराजका जो धर्मोपदेश हुआ, उसीका यह सारांश है। (प्रेषक—श्रीकृष्णप्रसादजी शर्मा)

ही प्रतिबिम्ब दीख पड़ा—तो कहा गया 'जब शरीरकी दाढ़ी कटनेपर आत्माकी भी दाढ़ी कट गयी तो इसी प्रकार शरीरका सिर कट गया तो आत्माका सिर कट गया—देह-नाशपर आत्माका नाश हो जाता है।' विरोचन तो यही समझकर और यही निर्णय करके तपस्यासे विरत हो गया और देहातिरिक्त आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है—ऐसा मानकर असुर हो गया। परंतु इन्द्रने पुनः बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक तप किया। अबकी इन्द्रने समझा कि 'जाग्रत्‌में जिसकी अङ्गुली कट गयी, स्वप्नमें नहीं कटती, जाग्रत्‌का अंधा स्वप्नमें खूब देखता है'—परंतु पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ, भ्रम ही रहा। फिर तीसरी बार बत्तीस वर्ष और तदुपरान्त चौथी बार पाँच वर्षका पुनः तप किया। इस प्रकार १०१ वर्षोंकी पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्यपूर्वक की गयी तपस्याके उपरान्त इन्द्रको ब्रह्माने वैराग्यका उपदेश दिया। जैसे शूकरके लिये शूकरी, कूकरके लिये कूकरी, इसी प्रकार इन्द्रके लिये इन्द्राणी है। जो स्वाद शूकरको मल-भक्षणमें प्राप्त है, वही नाना प्रकारके सौगन्ध्य, सौरस्य, सौन्दर्य-सम्पन्न सुमधुर पकवानोंमें इन्द्रको आता है। इनमें तनिक भी अन्तर नहीं।............वैराग्यके अनन्तर ही तत्त्वबोध होता है। जैसे दर्पणमें अपना कोई मुख निहार ले, ठीक इसी प्रकार मनुष्य ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकता है, परंतु अन्तःकरण (दर्पण) शुद्ध होना चाहिये। अन्यथा 'मुकुर मलिन पुनि नेत्रबिहीना। ब्रह्मरूप देखहि किमि दीना॥'—तो ये शास्त्र ही नेत्र हैं। शास्त्ररूपी नेत्र यदि ठीक है तो अन्तःकरण भी पवित्र है और केवल तभी 'ब्रह्म-साक्षात्कार' हो सकता है। अतः सांसारिक विषयोंसे वैराग्य होना अत्यन्त आवश्यक है। दूरकी क्या कहें, स्वयं अपने शरीरके नाक, कान, आँख, मुखादि सभी छिद्रोंमेंसे भीषणतम मल निकलते देखकर भी जिसे वैराग्य नहीं होता, तो फिर बताइये ऐसे व्यक्तियोंको 'योगवासिष्ठ' की कथा सुनानेसे ही क्या लाभ होगा?

इस असार संसारमें नश्वर क्षणभङ्गुर परंतु दुर्लभ मानव-शरीर पाकर भी लोग साम्राज्य, स्वराज्य, अनन्त सम्पत्ति माँगते हैं, भोग-सुखकी कामना करते हैं। परंतु माता कुन्ती भगवान्‌से विपत्तिकी ही याचना करती हैं; क्योंकि लोग सुख-सम्पत्तिकी प्राप्ति होनेपर प्रभुको भूल जाते हैं, भोग-विलासमें फँस जाते हैं और विपत्तिमें व्याकुल होकर मन प्रभु-चरणारविन्दमें लवलीन हो जाता है।

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

प्रभुस्मरण ही सम्पत्ति है एवं प्रभुविस्मरण ही विपत्ति है। भगवान्‌को भूलनेपर प्राणी दीनता, हीनता, दरिद्रता, परतन्त्रता एवं आधि-व्याधि, रोग, शोक, मोहादि-से घिर जाता है। व्यापक भ्रष्टाचार देशमें व्याप्त होकर महान् नैतिक पतन एवं चरित्रहीनताका साम्राज्य फैल जाता है। ऐसी स्थितिमें एक पञ्चवर्षीय योजना क्या, एक लाख पञ्चवर्षीय योजनाएँ बनायें—सब बेकार रहेंगी। 'हम कपड़ेका प्रबन्ध करेंगे'—कहते ही कपड़ा दुर्लभ, हम रोटीका प्रश्न हल करेंगे तो पेट-भर रोटी एवं ओषधिके लिये पैसातक उपलब्ध नहीं, बच्चोंके लिये फीसतक नसीब नहीं। लाख कानून बनाओ, परंतु जबतक भगवद्विश्वास न हो, धर्म-पालन न हो, ईमानदारी न हो—सारा विधान बेकार ही है। वैदिक कालमें एक राजाने घोषणा की थी कि 'मेरे राज्यमें न कोई चोर है, न शराबी है और न कोई दुश्चरित्र पुरुष ही तो फिर भला दुराचारिणी स्त्रियाँ तो कैसे हो सकती हैं?' महर्षि चाणक्यके कालमें चीनी यात्री लिखता है कि 'गङ्गापार फूसकी झोपड़ीमें भजनमें बैठे, विद्यार्थियोंको वेद पाठ कराते हुए वे निर्लेप महापुरुष ऐसा धर्ममय शासन चलाते थे कि लोग झूठ नहीं बोलते थे, घरोंमें ताला नहीं लगाते थे। न्यायालय है परंतु जहाँ मुकदमे नहीं। पुलिस है परंतु जहाँ अपराधी नहीं। जनता सुखी थी, समृद्ध थी। न रोटीकी समस्या थी, न कपड़ेकी, न ओषधिकी, न बच्चोंकी फीसकी। सब सुखी थे, सम्पन्न

थे। सारांश यही कि बिना ईश्वर एवं धर्म-नियन्त्रणके सुख-शान्ति नहीं मिलेगी। न योजनाएँ ही सफल होंगी। यदि समाजके व्यक्ति धार्मिक हो जायँ तो सुख-शान्ति, सम्पत्ति बिना बुलाये ही उमड़-उमड़कर वैसे ही स्वयं चली आयेंगी जैसे बिना बुलाये विपत्तियाँ स्वयमेव आती हैं। अतः यही मूलमन्त्र है कि हम दीनदार, ईमानदार, भगवत्परायण हों, भगवान्‌का चिन्तन करें। निजात्माका स्वरूप-अनुसंधान करें। सदाचारी-सच्चरित्र बनें। यही शास्त्र है। अरे, आप शास्त्रके नामसे चिढ़ते क्यों हैं ? भगवत्-विज्ञानमें सहूलियत उपस्थित कर देना ही शास्त्रका कार्य है। व्यष्टि, समष्टि जगत्‌के लौकिक उन्नतिके साथ-साथ पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये सहूलियत उपस्थित कर देना ही शास्त्रोंका काम है—परम निःश्रेयस मोक्षमार्गकी सभी बाधाओंको दूर कर देना ही शास्त्रोंका काम है—और यही सारांशमें राम-राज्यकी नीति है।

जन्म-मृत्यु-विचार

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥
मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

जो चैतन्य सर्वत्र व्यापकरूपमें स्थित है, वही चैतन्य देहविशेषमें प्रकट होता है; जो चैतन्य देहमें रहता है, वही चैतन्य सर्वत्र व्याप्त भी हो रहा है। इन दोनों चैतन्योंके बीच जो भेद मानता है, जीव-चैतन्यको ब्रह्म-चैतन्यसे पृथक् समझता है, उसे जन्म-मरणके चक्रमें भटकना पड़ता है।

यह दोनों चैतन्य एक ही हैं, यह प्रत्यक्ष तो नहीं जान पड़ता, इसलिये यह बात समझानेके लिये कहते हैं कि वह एकता, उन दोनोंका ऐक्य ज्ञाननेत्रसे, बुद्धिरूपी नेत्रसे देखा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है; क्योंकि वह चर्मचक्षुका विषय नहीं है।

यह निश्चय हो जानेके बाद जन्म-मृत्युका प्रवाहरूप संसार कैसे चलता है—यह समझमें आ जायगा।

जो चैतन्य सर्वव्यापक रूपमें ही वर्तमान है, वह ब्रह्म, परमात्मा या परमेश्वर आदि नामोंसे पुकारा जाता है। वही चैतन्य जब किसी देहविशेषमें प्रकट होता है तब वह आत्मा या प्रत्यगात्मा कहलाता है। यह आत्मा देहमें व्याप्त होकर रहनेके कारण अपने स्वरूपको भूल जाता है और अपनेको देह मानकर देहके धर्मोंको अपना धर्म मान लेता है। (यहाँ देहसे स्थूल-सूक्ष्म दोनों देह समझना चाहिये, क्योंकि एकाकी कोई कुछ करनेमें समर्थ नहीं।) इस प्रकार भ्रान्तिके वशमें पड़ा हुआ आत्मा 'जीव' कहलाता है। इसका दिग्दर्शन योगवासिष्ठमें इस प्रकार प्राप्त होता है।

जीव चित्तमय है; क्योंकि जिस प्रकार घटाकाश तभीतक विद्यमान रहता है, जबतक घड़ा विद्यमान है और घड़ेके नष्ट होते ही वह नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जीव तभीतक विद्यमान रहता है, जबतक चित्त विद्यमान है और चित्तके नष्ट हो जानेपर वह नष्ट हो जाता है। (यहाँ 'जीव' शब्दसे जीवभाव या जीवत्व-भ्रान्ति अर्थ लेना चाहिये।)

यह आत्मा—प्रत्यगात्मा बालककी भाँति चित्तकी गति आदि धर्मोंको अपने धर्म मान लेता है; जब चित्त चलता रहता है, तब अपनेको चलता हुआ मान लेता है, और जब चित्त स्थिर होता है, तब अपनेको स्थिर मानता है। इस प्रकार आत्मा भ्रमवश चित्तको ही अपना व्याकुल-

रूप मान लेता है। चित्तरूपी उपाधिमें पड़ा हुआ जीव (आत्मा) रेशमके कीटके समान वासनारूपी तन्तुओं-से अपने आपको बाँधा करता है और मूढ़ताके कारण चेतता नहीं। (नि० ५—१०) श्रीवसिष्ठजी अन्यत्र कहते हैं कि आत्मचैतन्य यदि निमेषके ·००५ भागतक भी स्वरूपसे बहिर्मुख हो जाता है तो यह संसाररूपी दुर्दशा उदय हो जाती है। लिङ्गशरीररूपी कल्पित उपाधिके कारण, ब्रह्मचैतन्य जीवत्वको प्राप्त करके, देह-के तथा मन-बुद्धि और इन्द्रिय आदिके समागमके क्रमसे मृगरूप, लतारूप, कीटरूप, देवरूप तथा असुरादि रूप भी धारण करता है (नि० ५—४२)।

इस प्रकार आत्मचैतन्यके बहिर्मुख होने तथा अन्तर्मुख होकर रहनेका एक विस्तृत दृष्टान्त अध्यात्मरामायणमें है। वहाँ श्रीहनुमान्‌जी रावणको समझाते हुए कहते हैं—

बुद्धीन्द्रियप्राणशरीरसंगत-
स्त्वात्मेति बुद्ध्याखिलबन्धभाग् भवेत्।
चिन्मात्रमेवाहमजोऽहमक्षरो
ह्यानन्दरूपोऽहमिति प्रमुच्यते॥

बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण और शरीरके संगके कारण आत्मचैतन्य जो इनमें मिथ्या तादात्म्य सम्बन्ध बाँधता है, उससे समस्त बन्धनोंका भोक्ता बनता है। बुद्धिके साथ एकात्मताके कारण वह कर्तृत्व-भोक्तृत्वके बन्धनमें पड़ता है, इन्द्रियोंके साथ एकरूपता होनेसे विषयोंके साथ संयोग-वियोगजन्य बन्धन प्राप्त होता है। प्राणके साथ तादात्म्य होनेसे क्षुधा-तृषा आदिका बन्धन प्राप्त होता है। और शरीरके साथ अध्यास होता है तो उसको जन्म-मरणका बन्धन जकड़ता है। इस प्रकार अविवेक-के कारण अनात्मामें आत्मबुद्धि होनेसे बन्धनकी परम्परा चालू हो जाती है। परंतु यदि आत्मा अपना वास्तविक स्वरूप श्रीसद्गुरुकी कृपाके द्वारा जान ले और निश्चय कर ले कि मैं तो चिन्मात्र हूँ, अजन्मा हूँ, अक्षर—अविनाशी हूँ तथा आनन्दस्वरूप हूँ तो उसी समय इन कल्पित बन्धनोंसे वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आत्माका निज स्वरूपमें स्थित होना ही मोक्ष कहलाता है।

यहाँतक यह निश्चय हुआ कि जहाँ है, वहाँ चैतन्य एक ही है, अर्थात् उसमें कोई भेद घटित नहीं होता। जो भेद दीख पड़ता है, वह उपाधिके भेदको लेकर ही दीखता है, वह केवल भ्रान्तिके द्वारा ही दीखता है। अन्तःकरणकी उपाधिसे युक्त चैतन्य जीव कहलाता है और शरीरकी उपाधिवाला चैतन्य आत्मा कहलाता है तथा उपाधिरहित चैतन्य ब्रह्म कहलाता है। जैसे घटकी उपाधिवाला आकाश घटाकाश, मठकी उपाधि-वाला आकाश मठाकाश तथा उपाधिरहित आकाश महाकाश कहलाता है। वस्तुतः चैतन्य तथा आकाश स्वरूपतः असङ्ग होनेके कारण उपाधिके धर्म उसे स्पर्श नहीं कर सकते। वे धर्म केवल प्रतिबिम्बित होते हैं, इस कारण यह भ्रम होता है कि उपाधियुक्त चैतन्य मानो विभिन्न हैं।

इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिये पहले तो आत्माका स्वरूप जानना चाहिये। श्रीअष्टावक्रजीने उसका स्वरूप समझाते हुए कहा है—

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः।
असङ्गो निःस्पृहः शान्तो भ्रमात् संसारवानिव॥

स्वरूपतः आत्मा दोनों देहोंका साक्षी है, व्यापक, पूर्ण, एक, नित्यमुक्त, चेतन, अक्रिय, असङ्ग—निरञ्जन, निःस्पृह, पूर्णकाम और शान्त है। परंतु भ्रान्तिके कारण अपनेको देहरूप मानकर अपने निरञ्जन, निराकार स्वरूपको भूलकर जन्म-मरणके प्रवाहमें प्रवाहित होता रहता है।

स्वरूपसे तो आत्मा नित्यमुक्त है, तथापि जबतक अपने स्वरूपका निश्चय नहीं कर सकता, तबतक उसको भवचक्रमें भ्रमणसे छुटकारा नहीं मिलता।

यावद् देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं वेत्ति नात्मनः।
तावत् संसारदुःखौघैः पीड्यते मृत्युसंयुतः॥

इस प्रकार हमने देख लिया कि आत्मा स्वरूपसे तो नित्यमुक्त, निरञ्जन तथा निःस्पृह अर्थात् पूर्णकाम है, तथापि जबतक यह निश्चय नहीं कर लेता कि वह उभयशरीरसे भिन्न है तथा इनके व्यवहारका साक्षीमात्र है, तबतक जन्म-मरणके चक्रमें, मानो कीलसे जड़ दिया गया हो, इस प्रकार फिरा करता है और प्रत्येक जन्ममें प्रारब्धके अनुसार संसारमें ढेरों दुःख भोगता है।

आत्मा स्वरूपतः सर्वव्यापक है, तथापि परिच्छिन्न हो जाता है और एक शरीरमें बँध जाता है। स्वयं सर्वशक्तिमान् है, तथापि अपनेमें शरीरकी अल्पशक्तिकी कल्पना करके स्वयं अल्पशक्ति बन जाता है। स्वयं अविनाशी है तथापि देहकी मृत्युसे अपनी मृत्यु मान लेता है और अजन्मा है, तथापि 'मेरा जन्म हुआ है'—यह मानकर जन्म-मरणके चक्रमें घूमा करता है। शुद्ध आत्माकी ऐसी भ्रान्ति होनेका कारण अविद्या है, अतएव उसका स्वरूप देखना चाहिये, जिससे उसकी निवृत्ति हो सके।

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥
अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका।
तस्माद्यत्नः सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः॥
(अ० रा०)

'मैं देह हूँ'—ऐसा आत्मा मान लेता है, यही अविद्या कहलाती है। 'मैं देह नहीं, बल्कि चेतनस्वरूप आत्मा हूँ'—ऐसा जब आत्मा निश्चय कर लेता है, तब उसे विद्या या ज्ञान कहते हैं। अविद्यासे जन्म-मरणका प्रवाह चलता रहता है और विद्या इसका निवारण करती है। इसलिये जिसको इस प्रवाहमेंसे छूटना हो, उसे विद्याभ्यास करना चाहिये; क्योंकि ज्ञानके बिना दूसरे किसी भी साधनसे इस प्रवाहमेंसे छुटकारा नहीं मिलसकता।

यहाँ हमने देख लिया कि अविद्यासे जन्म-मरण चालू रहता है और ज्ञानसे उसकी निवृत्ति होती है। इस बातको अध्यात्मरामायणके एक प्रसङ्गमें इस प्रकार समझाया है। चन्द्रमुनि सम्पातीसे कहते हैं—

एवं देहोऽहमित्यस्मादभ्यासान्निरयादिकम्।
गर्भवासादिदुःखानि भवन्त्यभिनिवेशतः॥
तस्माद् देहद्वयादन्यमात्मानं प्रकृतेः परम्।
ज्ञात्वा देहादिममतां त्यक्त्वाऽऽत्मज्ञानवान् भवेत्॥

इस प्रकार 'मैं शरीर हूँ'—इस प्रकारके अभ्याससे निकृष्ट योनियोंमें तथा नरकमें भी पड़ना पड़ता है तथा इस अभिनिवेशको लेकर प्रत्येक जन्ममें गर्भवास तथा जीवनकालके आधि, व्याधि तथा उपाधिकृत दुःखोंको सहन करना पड़ता है। इसलिये इनसे छूटना हो तो 'मैं आत्मा हूँ, प्रकृतिसे परे हूँ तथा दोनों शरीरोंसे भिन्न हूँ'—यह निश्चय करना चाहिये। ऐसा निश्चय हो सके, इसके लिये शरीरके सम्बन्धमें आनेवाले प्राणी-पदार्थोंसे ममताका सम्बन्ध त्याग देना चाहिये। इस प्रकार 'मैं आत्मा हूँ, देहादि कभी नहीं हूँ'—ऐसा निश्चय होनेपर जन्म-मरणसे छुटकारा मिल सकता है।

'मैं आत्मा हूँ'—यह निश्चय होनेके बादकी स्थिति समझाते हुए चन्द्रमुनि कहते हैं—

चिदात्मनि परिज्ञाते नष्टे मोहेऽज्ञसम्भवे।
देहः पततु प्रारब्धकर्मवेगेन तिष्ठतु॥
योगिनो नहि दुःखं वा सुखं वाज्ञानसम्भवम्।

'मैं शरीर नहीं, बल्कि चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ'—ऐसा दृढ अपरोक्ष निश्चय होनेपर अज्ञानजनित मोह सदाके लिये नष्ट हो जाता है। 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह निश्चय हो जानेपर शरीर आज नष्ट हो जाय, अथवा प्रारब्ध शेष हो तो उसके क्षयपर्यन्त जीता रहे, इससे इस प्रकारके ज्ञानीको अज्ञानजन्य सुख या दुःख कुछ भी नहीं होता।

इस प्रकार जीवन-मरणको समान समझनेवाला ज्ञानी पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।

इस प्रकारके जीवन्मुक्त पुरुष और सांसारिक पुरुषमें क्या विलक्षणता है—यह देखकर निबन्ध समाप्त किया जायगा ।

जीवन्मुक्त पुरुष ज्ञान सम्पादन करके अविद्यासे निवृत्त हो जाते हैं । कारणशरीरकी व्याख्या इस प्रकार है—

अनाद्यविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते ।

अनादि और अनिर्वचनीय अविद्या कारणशरीर कहलाती है । इस लक्षणसे अविद्याकी निवृत्ति ही कारण-शरीरका नाश है, यह स्पष्ट हो जाता है । इसलिये जीवन्मुक्तका कारणशरीर नाश होनेके कारण वह दो ही शरीरों (स्थूल और सूक्ष्म) में जीता है ।

आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने अद्वैतसिद्धि नामक ग्रन्थमें जीवन्मुक्तकी व्याख्या करते हुए इस बात-को स्पष्ट कर दिया है—

जीवन्मुक्तश्च तत्त्वज्ञानेन निवृत्ताविद्योऽपि अनुवृत्तदेहादिप्रत्ययः ।

वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है, जिसने तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति कर ली है । परंतु प्रारब्धका भोग शेष रहनेके कारण उसका शरीर जीवित रहता है तथा उससे यथायोग्य व्यवहार भी हुआ करता है । इस प्रकार आचार्यश्रीने यही बतलाया कि जीवन्मुक्तका कारण-शरीर नष्ट हो जानेके कारण वह दो ही शरीरोंसे जीवित रहता है ।

सांसारिक पुरुष ज्ञान-सम्पादन न करनेके कारण तीनों शरीरोंमें जीवित रहता है, अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंमें उसका जीवन रहता है । स्थूल शरीर जीता है तो वह सूक्ष्म शरीरका आधार होता है, जब स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, तब कारण-शरीर उसका आधार होता है ।

प्रारब्धका भोग जब समाप्त हो जाता है, तब दोनों ही पुरुषोंके स्थूल शरीर नाशको प्राप्त होते हैं; यह हम प्रत्यक्ष देखते ही हैं । इसमें कोई विलक्षणता नहीं होती ।

जीवन्मुक्तका स्थूल शरीर जब नाशको प्राप्त होता है, तब सूक्ष्म शरीर स्थूलको छोड़कर जैसे ही बाहर निकलता है वैसे ही आधारके अभावमें नाशको प्राप्त हो जाता है । अपने-अपने तत्त्वमें मिल जाता है । इस प्रकारके जीवन्मुक्त पुरुषके लिये ही कहा है—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति तत्रैव प्रविलीयन्ते ।

—उसके प्राण किसी दूसरे शरीरमें प्रवेश नहीं करते, बल्कि बाहर निकलते ही महाप्राणमें मिल जाते हैं । यह स्थिति 'विदेह कैवल्य' कहलाती है ।

सांसारिक पुरुषका स्थूल शरीर जब नाशको प्राप्त होता है, तब सूक्ष्म शरीर स्थूलको छोड़कर बाहर निकलता है । उस समय उसको कारण-शरीरका आधार प्राप्त होता है, इसलिये वह नाशको प्राप्त नहीं होता । उसकी रक्षाके लिये तुरंत ही उसको आतिवाहिक शरीर मिल जाता है और उसमें वे दोनों शरीर तबतक सुरक्षित रहते हैं जबतक पाञ्चभौतिक शरीर प्राप्त नहीं हो जाता ।

विनती

माधव बहुत मिनति कर तोय ।
दय तुलसी तिल, देह सौंपल, दया जनु छोडबि मोय ॥
गणयित दोष, गुणलेश न पावबि, जब तुहुँ करबि विचार ।
तुहुँ जगन्नाथ, जगते कहावसि, जग बाहिर नहि मुँई छार ॥
किय मानुष पशु, पाखी भये जनमिय, अथवा कीटपतंग ।
करमबिपाके, गतागत पुनु पुनु, मति रहु तुव परसंग ॥

—विद्यापति

वर्तमान पतन और उससे बचनेके लिये प्रेरणा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इस समय हमारे देशमें जहाँ एक ओर सर्वविध विकासकी योजनाएँ चल रही हैं, दूसरी ओर भाँति-भाँतिके दुर्गुण, दुराचार, भ्रष्टाचार, अनाचार, व्यर्थ खर्च तथा पतनकी गर्तमें गिरानेवाली नयी-नयी कुरीतियाँ बढ़ रही हैं, जिनसे सारा मानवसमाज संत्रस्त है। इन पतनकारी कार्योंमें एक दहेज भी है और उसका वर्तमान रूप बड़ा भयानक हो चला है। सगाई, तिलक, विवाह, गौना आदिमें जो आजकल दहेज दिया जाता है, वह सारे देशके लिये अत्यन्त घातक है। गरीब-से-गरीब आदमीकी कन्याका विवाह भी आजकल हजार-दो-हजार रुपयोंसे कममें नहीं होता। जो थोड़ा-सा भी प्रतिष्ठित है, उसकी कन्याके विवाह तो पाँच-सात हजार-से कममें सम्भव नहीं है। विचार कीजिये—एक सज्जन सौ रुपये मासिक वेतन पाते हैं और उनके घरमें पाँच आदमी हैं। तो उन सौ रुपयोंसे तो उनके भोजन-वस्त्रादिका निर्वाह भी बड़ी ही कठिनतासे चलता है; फिर जो अपनी इज्जतका जरा भी खयाल करता है उसकी कन्याका विवाह कैसे हो सकता है? न तो गरीब आदमीको ऋण ही मिल सकता है, न दान ही। भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें तथा सभी समाजोंमें दहेज-का रोग बढ़ रहा है। ब्राह्मण-समाज पहले इससे मुक्त था, अब दूसरोंकी देखा-देखी वह भी इसका शिकार हो रहा है। तथापि क्षत्रिय एवं वैश्य-समाजको सबसे अधिक कठिनता है; क्योंकि वे सहजमें दान लेना चाहते नहीं और ऐसा करनेमें उन्हें सहज ही लज्जा तथा अपमानका बोध होता है। फिर, यदि माँगें भी तो आजकल मिलना बहुत कठिन है। ऐसी परिस्थितिमें कन्या और कन्याके माता-पिताके सम्मुख जो भयानक संकट उपस्थित होता है, उसे वे ही जानते हैं। कोई-कोई कन्या तो माता-पिताकी भयानक मनोवेदनाको देखकर आत्महत्या तक कर लेती हैं, और कहीं कन्या-का विवाह करनेमें असमर्थ माता-पिता दुःखसे आत्म-हत्या कर बैठते हैं!

यह भयानक सामाजिक पाप है तथा इस पापमें प्रधान कारण वह लड़का और उसके माता-पिता आदि अभिभावक हैं जो मनमाना दहेज लिये बिना विवाह नहीं करना चाहते। अतएव हम लड़कोंसे और उनके माता-पिता आदिसे प्रार्थना करते हैं कि वे दहेज लेना सर्वथा बंद कर दें। प्रतिज्ञा कर लें कि हम विवाहमें दहेज लेंगे ही नहीं। ऐसा न कर सकें तो कन्याके माता-पिता जो कुछ आसानीसे देना चाहते हों और दे सकते हों, उससे एक चौथाई, अथवा अधिक-से-अधिक आधा स्वीकार करें। अर्थात् जो सौ रुपये देना चाहते हों, उनसे पचीस या इससे संतोष न हो तो अधिक-से-अधिक पचास रुपये ही लें। अभिप्राय यह है कि दहेज देनेवाले प्रेमपूर्वक जो देना चाहें, उससे कम-से-कम लेना स्वीकार करें। दहेज देनेवाला आसानीसे तथा प्रसन्नतापूर्वक जो देना चाहे, उसे ले लेना विशेष अपराध नहीं है। परंतु वर्तमान दहेज जिस प्रकार बलात्कारसे लिया जाता है, वह निश्चय ही पाप है। अतएव इस पापको मिटानेके लिये कम-से-कम लेना उत्तम है। और कन्याके माता-पितासे मोल-तौल करके या उनपर दबाव डालकर और उन्हें बाध्य करके लेना तो सचमुच ही समाजका ध्वंसकारी एक बड़ा पाप है इससे बचनेकी बड़ी ही आवश्यकता है।

विवाह, यज्ञोपवीत तथा अन्यान्य समारोहोंपर विशाल पण्डाल बनाने, उन्हें अनाप-शनाप खर्च करके सजाने, रुचि बिगाड़नेवाले चित्रादि लगाने, गानोंकी चूड़ियाँ बजाने,

रोशनीकी भरमार करने, आतिशबाजी छुड़ाने, गाने-बजाने या सिनेमादिका प्रदर्शन करानेमें इतना अधिक प्रमाद तथा खर्च किया जाता है कि जो समाजको सर्वथा पतनकी ओर ले जानेवाला तथा गरीबोंके हकका पैसा व्यर्थ उड़ा देनेवाला होनेके कारण बड़ा पाप होता है। इसको यथासाध्य न करना या कम-से-कम करना चाहिये।

आजकल ब्याह-शादी आदिमें जो भोजनकी व्यवस्था की जाती या पार्टियाँ दी जाती हैं, उनमें खर्चका तो कोई ध्यान रक्खा ही नहीं जाता, उनसे अनाचार भी काफी फैलता है। बड़े शहरोंमें बड़े आदमियोंके यहाँ तो प्रायः ऐसी भोजनपार्टी, या चायपार्टी उन होटलोंमें ही दी जाती है, जहाँ मांसादिसे कोई परहेज नहीं रक्खा जाता। कम-से-कम बर्तन तो वही होते हैं। वहाँ आचार-रक्षाकी कोई सम्भावना ही नहीं। खानसामे परोसते हैं, जूँठनका कोई खयाल ही नहीं रक्खा जाता, (जिसका स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी खयाल रखना अत्यावश्यक है।) फलतः अर्थके साथ-साथ आचार, धर्म तथा स्वास्थ्यका भी नाश होता है। इस बढ़ती हुई विनाशकारी प्रथाको जितना शीघ्र दूर किया जाय, उतना ही उत्तम है।

विवाह आदि समारोहोंमें अनावश्यक सुगन्धि-द्रव्य, बीड़ी, सिगरेट, मदिरा, आसव आदिका वितरण भी व्यर्थ, प्रमादपूर्ण तथा पापोत्पादक है। इसको भी दूर करना चाहिये।

गौने आदिमें जो बहुत-से अनावश्यक कपड़े, व्यर्थके चित्र, खिलौने आदि अनेक प्रकारकी ऐसी वस्तुएँ दी जाती हैं जो सभी उपयोगी नहीं होतीं। इसलिये उपयोगमें आनेयोग्य वस्तुएँ भी कम मात्रामें दी जानी चाहिये। उच्च चरित्रका निर्माण करनेवाला साहित्य दिया जाय तो उससे बड़ा लाभ हो सकता है।

इसी प्रकार अन्यान्य अवसरोंपर भी, जैसे मारवाड़ी अग्रवालोंमें साध, खिचड़ी, तालवा, छूछक, भात आदिमें जो व्यर्थ खर्च किया जाता है तथा आडम्बर दिखाया जाता है, उसे दूर करना चाहिये।

ऐसे ही, घरमें बालक होनेपर भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। बालकका जन्म सभीके लिये प्रसन्नता देनेवाला होता है और उस समय उत्सव-दानादि भी किये जाते हैं; परंतु उस आनन्दमें प्रमाद नहीं होना चाहिये। व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले ताश-चौपड़ आदि खेलना, बीड़ी-सिगरेट-शराब आदिका वितरण करना, नाच-तमाशे कराना, पार्टियोंमें अनाप-शनाप खर्च करना आदि सब आदर्शको विगाड़नेवाले कार्य हैं जो अनुचित और त्याज्य हैं। उस समय शास्त्रानुसार जातकर्म और नामकरण आदि संस्कार अवश्य कराने चाहिये, जिससे बालकका यथार्थ मङ्गल हो और उसके हृदयमें शुभ संस्कारोंका संचार हो।

इसी प्रकार चरित्रनाशक सिनेमा, प्रमाद बढ़ानेवाले क्लब आदिमें जाने तथा व्यर्थ नाचरंग आदि देखनेमें समय, धन और शुभ संस्कारोंका नाश होता है। इससे यथासाध्य बचना चाहिये।

शिक्षाक्षेत्रमें नैतिक स्तर गिर रहा है। छात्रोंमें उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। परस्पर स्नेह तथा विनयका अभाव हुआ चला जा रहा है। नैतिक उन्नतिका ध्यान घट रहा है। खान-पानकी भ्रष्टता बढ़ रही है। इस ओर पूरा ध्यान दिये जानेकी आवश्यकता है; क्योंकि ये छात्र ही देशके भविष्यकी आशा हैं। पाठ्यक्रममें आवश्यक सुधार होना चाहिये, जिससे पढ़ाई सस्ती, सुविधाजनक, अल्पकालीन तथा नैतिक उत्थान करनेवाली हो। कन्या तथा बालकोंकी सहशिक्षा बड़ी हानिकर है। इससे उनका मन पढ़ाईमें नहीं लगता, तथा ब्रह्मचर्यका नाश होता है। इस प्रथाको सर्वथा हटाकर पृथक्-पृथक् अध्ययनकी व्यवस्था होनी चाहिये।

आजकल प्रायः सभी विभागोंमें अनैतिकताका संचार हो गया है तथा भ्रष्टाचारसे घृणा निकलती जा

रही है। वरं कहीं-कहीं तो मनुष्य भ्रष्टाचार करके गौरव तथा बुद्धिमानीका अनुभव करता है जो नैतिक पतनका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। घूसखोरी एक साधारण पेशा-सा बन गया है। सरकार तथा जनता दोनोंको ही इस पापके मिटानेमें प्रयत्नशील होना चाहिये।

व्यापारियोंसे प्रार्थना है कि व्यापारमें इनकमटैक्स, सेल-टैक्स आदिकी चोरी न करके सरकारको सही-सही हिसाब दिखलाना चाहिये; क्योंकि इसमें झूठ, कपट, बेईमानी करनी पड़ती है और बही-खातोंमें झूठे जमा-खर्च करने पड़ते हैं। इससे पाप तो होता ही है, संसारमें बदनामी होती है, पकड़े जानेपर दण्ड होता है, आत्मामें ग्लानि होती है एवं आत्माका पतन होता है तथा मरनेपर दुर्गति होती है। और चोरी-अन्यायके पैसे रहते भी नहीं। इसलिये इस दुराचारको सर्वथा बंद कर देना चाहिये। थोड़े-से जीवनको इस प्रकार पापमय बनाकर नष्ट नहीं करना चाहिये।

व्यापारको उच्च कोटिका और सच्चा बनाना चाहिये। झूठ-कपटका त्याग करके निष्कामभावसे जो व्यापार किया जाता है, उस व्यापारसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है। व्यापारमें वजन, नाप और संख्यामें न तो किसीको कम देना और न किसीसे अधिक लेना चाहिये। दलाली, नफा, कमीशन, आढ़त, ब्याज, लगान और भाड़ा आदि ठहराकर न तो कम देना चाहिये और न अधिक लेना चाहिये। पाट, रूई, ऊन, सुपारी वगैरहमें जल डालकर उसे अधिक वजनका कर देना बड़ा भारी पाप है। इसी प्रकार व्यापारमें और भी बहुत-से पाप हैं, उनसे बचना चाहिये। सरसों, अलसी, पाट, कपास आदिका बढ़िया नमूना दिखलाकर घटिया देना, बढ़िया चीजमें घटिया चीज मिलाकर देना—जैसे, घीमें बेजिटेबल; सरसों, तिल, मूँगफली, गिरी आदिके बढ़िया तेलमें दूसरा तैल मिलाना, दाल और जीरा-आदिमें मिट्टी मिला देना, एवं नकली दवा तथा नकली गोल मिर्च, साबू, पीपल आदि बनाना है। ब्राह्मी-आँवला तेलके नामपर नकली तेल बनाना—ये सब बड़े पाप हैं, इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, विश्वासघात, दगाबाजीको त्यागकर सबके साथ समान व्यवहार करते हुए परोपकारकी दृष्टिसे स्वार्थ त्यागकर जो निष्कामभावसे व्यापार किया जाता है, उससे व्यापार करनेवालेकी राज्यमें और इस लोकमें तो प्रतिष्ठा है ही, उसके अन्तःकरणकी शुद्धि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति भी सहज ही हो सकती है।

अभिप्राय यह कि स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे उत्तम व्यवहार करनेपर मनुष्यका शीघ्र ही कल्याण हो सकता है। उत्तम व्यवहारका नाम ही सदाचार है। मनुष्यके हृदयमें सत्य भाव होनेसे उसके आचरण भी सत्य ही होते हैं। सत्य आचरणका ही दूसरा नाम सदाचार है। इसलिये मनुष्यको सबके हितकी दृष्टिसे सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार करना चाहिये, यही मनुष्यका धर्म है। धर्मकी उत्पत्ति उत्तम आचरणसे ही होती है। महाभारतमें बतलाया है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥
(अनुशासन० १४९। १३७)

'सब शास्त्रोंमें आचार प्रथम माना जाता है, आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं।'

यहाँ 'आचार'का तात्पर्य है उत्तम-से-उत्तम व्यवहार। उत्तम-से-उत्तम व्यवहारके लिये निम्नाङ्कित पाँच बातोंकी आवश्यकता है—

(१) स्वार्थका त्याग,
(२) अहंकारका त्याग,
(३) सत्य आचरण,

(४) विनय,

(५) प्रेम ।

अभिप्राय यह कि जिस किसीके साथ व्यवहार किया जाय, उसके साथ स्वार्थ और अहंकारका सर्वथा त्याग करके विनय और प्रेमसे युक्त सत्य व्यवहार करना चाहिये । ऐसा व्यवहार ही सर्वोत्तम है । इसीसे धर्मका सम्पादन होता है । धर्म क्या है ?

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।
(वैशेषिक० सूत्र २)

'जिससे अपना तथा दूसरोंका अभ्युदय और परम कल्याण हो, वही धर्म है ।'

जिसमें दूसरोंका हित होता है, अपना हित तो उसके अन्तर्गत ही है । इसलिये दूसरोंके हितके समान कोई धर्म नहीं है । श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

'दूसरोंका हित करनेके समान कोई धर्म नहीं है और दूसरोंको कष्ट देनेके समान कोई अधर्म नहीं । जिनके मनमें दूसरोंका हित निवास करता है, उस व्यक्तिके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ।' भाव यह कि निःस्वार्थभावके कारण उसका सहजमें ही कल्याण हो सकता है । भगवान् भी गीतामें कहते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(१२ । ४ का उत्तरार्ध)

'जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

अतः मनुष्यमात्रका यह कर्तव्य है कि जिसमें सबका हित हो, ऐसा ही कार्य करे ।

हमारे शास्त्रोंमें जो 'भूतयज्ञ'के नामसे बलिवैश्वदेव करनेका विधान किया गया है, उसका भी यही भाव है कि सारे संसारको बलि (भोजन) देकर ही भोजन करना चाहिये । यदि कहें कि कोई मनुष्य सारे विश्वको भोजन कैसे करा सकता है और गरीब तो करा ही कैसे सकता है, सो ठीक है; किंतु इसमें न तो पैसोंका ही खर्च है और न कोई परिश्रम ही है । भोजन तैयार होनेपर केवल पचीस ग्राससे ही यह कार्य सम्पन्न हो जाता है । इनमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक पाँच ग्रास तो देवताओंकी तृप्तिके लिये अग्निमें हवन किये जाते हैं और शेष बीस ग्रास भूमिपर छोड़े जाते हैं; ये ग्रास सबकी तृप्तिके लिये गौ आदिको दे दिये जाते हैं । इससे सारे विश्वकी तृप्ति हो जाती है । मनुस्मृतिमें कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥
(मनु० ३ । ७६)

'वेदोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यमें स्थित होती है, सूर्यसे मेघद्वारा वर्षा होती है और वर्षा होनेसे अन्न पैदा होता है तथा अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है (एवं अन्नसे ही सब जीवोंकी तृप्ति और वृद्धि होती है) ।'

इसी प्रकार गौओंकी तृप्तिसे भी सबकी तृप्ति हो जाती है । गौके दूध, दही, घीसे देवता, मनुष्य, पितर आदि सब तृप्त होते हैं तथा गौके गोबर-गोमूत्रसे खादके द्वारा अन्नकी उत्पत्ति होती है, जिससे सब प्राणियोंकी तृप्ति होती है । अतः सबके हितके लिये निष्कामभावसे बलिवैश्वदेव करना बहुत उच्चकोटिका भाव है । गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(३ । १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं वे तो पापको ही खाते हैं ।'

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
(३। १४)

'क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है।'

इसी प्रकार सबको जल पिलाकर जल पीना भी बहुत उच्च कोटिका भाव है। जब मनुष्य जलसे तर्पण करता है तो प्रथम ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंका, फिर ऋषियोंका, उसके बाद मनुष्योंका और फिर यावन्मात्र भूत-प्राणियोंका तर्पण करता है। तर्पणका यह जल सूर्यको प्राप्त हो जाता है एवं सूर्यसे वर्षाके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंको प्राप्त हो जाता है।

इसीलिये शास्त्रोंमें ऋषि-मुनियोंने मनुष्यके लिये सब प्राणियोंका हित करनेका आदेश दिया है।

सबके हितकी दृष्टिसे अहंकार और स्वार्थका त्याग करके विनय और प्रेमपूर्वक सत्य-व्यवहार करनेसे जिसके साथ व्यवहार किया जाता है उसपर बहुत अच्छा असर होता है, उसपर उसकी छाप पड़ती है, दूसरोंको भी इससे अच्छी शिक्षा मिलती है और अपनी आत्माकी भी शुद्धि होकर सच्ची उन्नति होती है। अतः इससे संसारको बहुत लाभ होता है। जो दूसरोंके हितके लिये अपना तन, मन, धन अर्पण करके जीते हैं, उन्हींका जीवन धन्य है। अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी सिद्धिके लिये जीना तो पशुतुल्य है। नीतिमें बतलाया गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥
(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें ज्ञान अधिक है; किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य हैं।'

क्योंकि यह मनुष्यका शरीर आत्माके उद्धारके लिये मिला है, विषय-भोगके लिये नहीं और न यह स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही है। किंतु जो अपने समयको इस प्रकार न बिताकर विषय-भोगोंमें रमण करता है, उसकी तो शास्त्रोंमें निन्दा की गयी है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

जैसे लोभी मनुष्य प्रत्येक लेन-देनके व्यवहारमें यही विचार करता है 'इससे मुझे क्या लाभ होगा।' 'इससे मुझे क्या लाभ होगा।' इस प्रकार स्वार्थबुद्धि करके ही वह कार्यमें प्रवृत्त होता है। किंतु जो अपना कल्याण चाहता हो, उसको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'इस कार्यके करनेसे जगत्के प्राणिमात्रको क्या लाभ होगा।' मनुष्यको समष्टिके लाभके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग कर देना चाहिये और 'मैंने त्याग किया है' इस अभिमानका भी त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार स्वार्थ-त्यागपूर्वक निष्काम प्रेम-भाव होनेपर मनुष्यका शीघ्र ही सुधार होकर उद्धार हो सकता है।

'वह कैसा इन्सान ?'

हँसते-हँसते कर न सका जो कालकूटका पान!
किया न जिसने निज हत्यारेका सम्यक्-सम्मान!
दे न सका जो किसी पतितको मंगलमय वरदान!
बहुत बार सोचा है मैंने वह कैसा इन्सान?

—ब्रह्मानन्द "बन्धु"

गीतामें श्रेयःका प्रश्न

(लेखक—श्रीमिश्रीलालजी एडवोकेट)

'श्रेयः' और 'प्रेयः' दो शब्द हैं। श्रेयः कल्याण करनेवाले हितकर पदार्थों और कर्मोंके लिये प्रयुक्त होता है और प्रेयः शब्दका प्रयोग मनको प्यारी लगनेवाली मनोहर वस्तुओंके लिये किया करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें आत्मा और देहका भेद बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको समझाया था कि देह जो प्यारी लगती है और जिसकी प्रसन्नताके लिये प्यारी-प्यारी वस्तुओंका संग्रह किया जाता है, नाशवान् है; आत्मा अमर है, जिसके जाननेके लिये कठिन तपस्या और प्रयत्न किये जाते हैं। यह भी उपदेश दिया कि जो सुख आरम्भमें विषके समान और अन्तमें अमृत-तुल्य सिद्ध हो, वह सात्त्विकी और श्रेयस्कर होता है। राजसी सुख इसके विपरीत आरम्भमें अमृततुल्य और अन्तमें विषवत् सिद्ध होकर मनुष्यका अहित करता है। यही श्रेयः और प्रेयःमें भिन्नता है। संसारमें मनुष्य तत्काल सुख देनेवाले आपातरमणीय पदार्थोंकी ओर अधिक दौड़ते हैं और जो पदार्थ अरोचक प्रतीत होते हैं उनकी उपेक्षा करते हैं। श्रेयः और प्रेयःके इस भेदको अर्जुन भलीभाँति समझता था और श्रेयःका ही अभिलाषी था। परंतु महाभारतका युद्ध प्रारम्भ होनेके अवसरपर जब उसने देखा कि दोनों ओर अपने ही भाई-बन्धु और सम्बन्धी हैं और दोनों ओरसे उन्हींका संहार होगा तो वह मोहवश धर्मसंकटमें पड़ गया और कहने लगा—

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ (गीता १। ३१)

मैं अपने ही स्वजनोंका संहार करके अथवा करानेमें कोई श्रेयः नहीं देखता। एवं श्रेयःके स्वरूपको समझनेकी भूल-भुलैयामें पड़कर विचारने लगा—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। (गीता २। ५)

—कि भीष्म-द्रोण-सरीखे अपने गुरुजनोंका वध करके राज्यके सुखोंको भोगनेकी अपेक्षा उनका वध न करके भिक्षा माँगकर उदर भरनेमें श्रेयः है। ऐसा सोचकर अर्जुनने अस्त्र-शस्त्र डाल दिये और दुखी होता हुआ रथसे उतरकर वह नीचे बैठ गया। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी इस उदासीनता और रणकी ओरसे उपरामताको क्लीवताका लक्षण समझा और वे कहने लगे कि 'अर्जुन! ऐसे विकट समयमें तुझको नपुंसकपन शोभा नहीं देता। तू मोहके वशमें आकर स्वधर्मका त्याग कर रहा है। इसमें तुझे न तो संसारमें यश मिलेगा और न स्वर्गमें सुख, और न तू ज्ञानियोंकी भाँति मोक्षका अधिकारी बनेगा। तू बातें तो ज्ञानियोंकी-सी कर रहा है परंतु मोह और अज्ञानमें फँसा हुआ है' इत्यादि।

अर्जुनकी श्रद्धा श्रेयःकी प्राप्तिमें ही थी। परंतु उसकी बुद्धि श्रेयः और प्रेयःके स्वरूपको समझनेमें भ्रमित हो गयी और भगवान् श्रीकृष्णको अपनेसे असहमत होते हुए देखकर और भी अधिक उलझनमें पड़ गयी। उसने एक ओर तो अपने ही सम्बन्धियोंका सर्वनाश, और दूसरी ओर भगवान् श्रीकृष्णका उसी सर्वनाशकारी महाभारतके लिये, आग्रह देखकर और अपने इस विचारको कि अपने ही स्वजनोंका वध करनेमें कोई श्रेयः नहीं है, श्रीकृष्णकी सम्मतिमें असंगत तथा स्वधर्मके विरुद्ध जाना सुनकर उसकी बुद्धि नितान्त भ्रान्त हो गयी। परंतु भगवान् श्रीकृष्णमें उसकी अटल श्रद्धा थी, अतः वह घबराकर कहने लगा—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(२। ७)

'भगवन्! मेरी बुद्धि धर्मसंकटमें फँसकर अत्यन्त कुण्ठित हो गयी है। मैं किंकर्तव्यविमूढ हो रहा हूँ। मेरी समझमें नहीं आता कि मेरा श्रेयः किसमें है। मैं श्रेयः चाहता हूँ। जिसमें निश्चितरूपसे मेरा श्रेयः हो उसे बतलाइये। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ।'

श्रेयःका असली स्वरूप समझानेके लिये कठोपनिषद्में एक आख्यान है कि नचिकेताने जब यमसे यह वर माँगा कि मुझे आत्मसुखकी प्राप्तिका साधन बतलाइये तो यमने कहा कि 'यह प्रश्न अत्यन्त कठिन और दुरूह है। आत्म-सुखका पाना अत्यन्त कष्टसाध्य है। देवताओंने भी इसे दुष्कर और दुःसाध्य माना है, तू इस वरको छोड़ दे और कोई अन्य वर माँग ले। चिरस्थायिनी जीविका माँग ले, मनमानी दीर्घ आयु माँग ले; धन, संतान और ऐश्वर्य माँग ले, इच्छानुसार समस्त

कामनाओंकी पूर्तिका वर माँग ले और स्वर्गमें जो सुख मिल सकते हैं उन सबको माँग ले। आत्म-सुखके कठिन वरकी प्राप्तिके लिये क्यों हठ करता है ? इसमें तेरा समस्त जीवन कष्टमय व्यतीत होगा! मैं तुझे ऐसा वर देना चाहता हूँ जिसमें तुझे जीवनभर सब प्रकारका सुख मिले।'

नचिकेताने उत्तर दिया कि 'ये सब भोग-विलास जो आप मुझे देना चाहते हैं सदैव नहीं रहेंगे, अन्तमें सबहीका क्षय होगा। साथ ही ऐसे भोग-विलास इन्द्रिय, मन और बुद्धिके तेजको जीर्ण कर देते हैं। सारा जीवन भी, कितना ही दीर्घ क्यों न हो, अन्तमें समाप्त ही होनेवाला है। तब आपके दिये हुए ये समस्त ऐश्वर्य और भोग-विलास मेरे किस काम आयेंगे ? केवल देहके भोगोंमें कौन विचारशील मनुष्य सुख मानेगा ? सच्चा सुख तो वह है जिसमें आत्मकल्याण हो। यदि इसकी प्राप्तिमें आयुभर कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़े तो इसकी चिन्ता नहीं; क्योंकि सुखमय जीवनकी भाँति यह कष्टमय जीवन भी अन्तमें समाप्त ही हो जायगा। मुझे आत्मसुखकी प्राप्तिका ही वरदान दीजिये। यह ठीक है कि देवताओंने भी आत्मसुख और आत्मज्ञानके लाभको दुर्लभ और दुःसाध्य समझा है; परंतु वह असंभव और असाध्य तो नहीं है। ऐसे सुखमय जीवनसे क्या लाभ कि जो जीवात्माके लिये कल्याण-कारी न सिद्ध हो। ऐसा आपातरमणीय और प्रेयः जीवन मैं नहीं चाहता। मैं तो श्रेयःका अभिलाषी हूँ। इस मार्गका बतलानेवाला और धर्मका वक्ता आपके समान अन्य नहीं मिल सकता और मैं उस वरके अतिरिक्त किसी अन्य वरको हित-कर नहीं समझता। मैं ऐसे अमूल्य और अलभ्य अवसरको खोना नहीं चाहता। मेरे ऊपर दया कीजिये और मेरी प्रार्थना स्वीकार करके वही उपदेश दीजिये जिससे मेरा कल्याण हो और मुझे आत्माका सच्चा और नित्य सुख प्राप्त हो।'

इसपर यमने कहा—'नचिकेता! मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। तू सत्यकी खोजमें है। तू प्रेयःकी चिन्ता न करके श्रेयःका अभिलाषी है।' कठोपनिषद्में इस स्थलपर यमके निम्नलिखित वचन हैं—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥
(१।२।१)

'श्रेयः और प्रेयः दोनों विभिन्न प्रयोजनवाले हैं। दोनों ही पुरुषको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। परंतु उनमेंसे श्रेयःके ग्रहण करनेवालेका कल्याण होता है और प्रेयःका चाहनेवाला मनुष्यत्वसे गिर जाता है। यह कहकर यम बोले—'नचिकेता! मैं तुझे सत्यज्ञानका जिज्ञासु समझता हूँ। तुझको संसारके भोगोंने नहीं लुभाया, तूने प्रेयःका त्याग किया और तू श्रेयःकी प्राप्तिका उत्सुक है।'

अर्जुनकी 'यच्छ्रेयो निश्चितं ब्रूहि तन्मे'की प्रार्थनासे पता चलता है कि नचिकेताकी भाँति अर्जुन भी श्रेयःका ही अभिलाषी था और श्रेयःकी उत्कृष्टतामें विश्वास रखता था। परंतु नचिकेता श्रेयःके स्वरूपको जितनी सूक्ष्मताके साथ समझता था, अर्जुन उसे उतना नहीं जानता था। अतः यह मानकर कि मैं धर्मसंकटमें फँस गया हूँ, मेरे चित्तमें विचारों-की संकीर्णता है, मैं 'किंकर्तव्यविमूढ' हूँ, अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे श्रेयःका तत्त्व समझानेके लिये प्रार्थना की, भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनको अपने धर्मसे पराङ्मुख होता हुआ देखकर सबसे पहले यही उपदेश दिया—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'

—कि अपने कर्तव्य-धर्मके पालन करनेमें, जिसे स्वधर्म कहते हैं, श्रेयः है। इस प्रकार अपना कर्तव्य पालन करनेमें चाहे प्राण चले जायँ; परंतु श्रेयःके अभिलाषीको अपने कर्तव्य-धर्मसे विमुख नहीं होना चाहिये। और इसीके साथ कहा—

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(गीता २।३१)

—कि धर्मयुद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये कोई दूसरा कर्म श्रेयस्कर नहीं है। तत्पश्चात् अर्जुनको कर्मयोगका महत्त्व बतलाया और रागद्वेषसे रहित होकर स्वधर्मका पालन करनेकी श्रेष्ठताकी ओर उसका ध्यान आकर्षित किया और यह बतलाया—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २।७१)

'जो मनुष्य फलकी कामनाओंके वशीभूत न होकर, ममता और अहंकारमें न फँसकर अपने कर्तव्यका पालन करता है वह शान्ति प्राप्त करता है।' और इसीके साथ स्थितप्रज्ञ-की महिमाका वर्णन किया और यह बतलाया कि—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
(गीता २।४९)

अर्थात् अर्जुन, कर्म तो बुद्धिकी अपेक्षा नीची श्रेणीका है, तो अर्जुन भ्रममें पड़ गया और निवेदन करने लगा—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

(गीता ३ । १-२)

'श्रीकृष्ण ! यदि आपकी सम्मतिमें कर्मकी अपेक्षा बुद्धिका महत्त्व बड़ा है तो फिर इस महाभारतके घोर हत्याकाण्डमें मुझे क्यों लगाते हो ? भगवन् ! मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि मेरा श्रेयः किसमें है । आप कभी कर्म-को बड़ा बतलाते हैं और कभी बुद्धिको । आपके इन गोलमाल वाक्योंसे मेरी शङ्का दूर नहीं होती । मुझे तो इन दोनोंमेंसे एक मार्ग बतलाइये जिसके द्वारा निश्चितरूपसे मुझको श्रेयः-की प्राप्ति हो । मेरा तो मूल प्रश्न ही यह है कि 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' जिससे मेरा निश्चित रूपसे श्रेयः (कल्याण) हो उसे मुझे बतलाइये ।'

प्रश्नके दुहरानेसे श्रीकृष्णने अनुमान किया कि अर्जुनने कर्मकी मीमांसाको ठीक नहीं समझा । वह कर्म और बुद्धिके साधनको अलग-अलग मान रहा है । इस भ्रमको दूर करनेके लिये श्रीकृष्णने अर्जुनको समझाया कि बुद्धिका महत्त्व अधिक होते हुए भी कर्म अनिवार्य है । कर्म तो करना ही पड़ेगा । परंतु इसको रागद्वेषरहित होकर करनेमें बुद्धिकी सहायता आवश्यक है । जैसी बुद्धि होती है वैसा ही कर्म बन जाता है । कर्मका रागद्वेषरहित अथवा रागद्वेषसहित होना बुद्धिकी धारणापर निर्भर रहता है । कर्मके निष्काम और सकाम होनेमें बुद्धिकी भावना ही कारण होती है और उसीके अनुसार कर्मका फल मिलता है, इसीलिये बुद्धिकी प्रधानतापर जोर दिया गया है और बुद्धिके सामने कर्मको गौण बतलाया है । परंतु दोनों सदैव साथ-साथ रहते हैं—एक दूसरेका निरास नहीं करते । बुद्धियोग और कर्मयोग दोनों एक हैं । बुद्धियोग ही कर्मयोग है और कर्मयोग ही बुद्धियोग है । दोनोंके सहयोगमें मनुष्य-का श्रेयः निहित है ।

बुद्धि और कर्मके सहयोगसम्बन्धी शङ्काका समाधान करने-के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने बतलाया कि यह कर्मयोग जिसमें बुद्धिकी प्रधानता है और जिसमें साधकको स्थितप्रज्ञ होनेकी आवश्यकता है, निःस्पृह, निर्मम और निरहंकार बनकर किया जा सकता है जिससे कि कर्मोंका फल भोगनेके लिये पुनः जन्म न लेना पड़े । सबसे उत्तम साधन इसके लिये कर्मयज्ञ है । क्योंकि—

'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।'

अर्थात् यज्ञके रूपमें कर्म करनेवालेके समस्त कर्मोंका विलय हो जाता है । वे कर्म-फल देनेवाले सिद्ध नहीं होते और एक भुने हुए बीजके समान उनमेंसे फलका अङ्कुर नहीं निकलता । यह यज्ञ क्या है और यज्ञके लिये कर्म करना किसे कहते हैं उसे सुन—

अग्निमें आहुतियाँ डालकर देवताओंको बलि पहुँचाना तो यज्ञका भौतिकरूप है, असली यज्ञ तो उन कर्मोंको कहते हैं जिनमें स्वार्थका लेश भी न हो और जो विश्वकल्याणके लिये किये जायँ । ईश्वरकी सृष्टिमें प्रत्येक पदार्थ, जीव, सूर्य, चन्द्रमा आदि सहकारिता और पारस्परिक सहयोग और सहायताके तन्त्रमें बँधे हुए हैं, सब एक दूसरेकी सेवाके लिये बनाये गये हैं और सृष्टिकी रचना, स्थिति तथा लयका महान् यज्ञ भी तभी सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है जब कि सृष्टिके समस्त अङ्ग अपने-अपने कर्तव्य-कर्म अर्थात् स्वधर्मकी आहुति उस महान् यज्ञमें डालते रहें । सूर्यका प्रकाश, जलकी वृष्टि, अग्नि-का जलना, वृक्षोंका फल-फूल देना, पृथ्वीका अन्न उत्पादन करना, पशुओं तथा मनुष्योंका भी अपना-अपना कर्तव्य पालन करना उस महान् यज्ञमें अपनी-अपनी आहुतियाँ डालना है जिसमें स्वार्थको स्थान नहीं । और सृष्टिके इसी अटल नियमके आधारपर जगत्की रचना हुई है अर्थात् सृष्टिकी रचनाके साथ ही पारस्परिक सहकारिता और सहयोगके नियम रचे गये हैं और उनके पालनको यज्ञनाम दिया गया है । गीता स्वयं कहती है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

(३ । १०)

'सृष्टिके साथ ही कर्मरूपी यज्ञोंकी रचना करके प्रजापतिने सबको आशीर्वाद दिया कि तुम सब इसी यज्ञद्वारा फूलो-फलो ।'

वस्तुतः भी देखनेमें आता है कि सृष्टिका कोई भी अङ्ग यदि अपना कर्म (स्वधर्म) त्याग दे तो सृष्टिकी स्थिति असाध्य बन जाती है । मनुष्य-जातिको इसका उपदेश ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि सृष्टिके समस्त अङ्ग, सूर्य, चाँद, जल, वायु, पशु-पक्षीतक प्रकृतिके अनुकूल चलकर अपने

कर्तव्य-धर्मका पालन करते हैं। परंतु मनुष्य ही स्वार्थवश अपने कर्तव्यके पालनमें प्रमाद करता है।

इस महान् यज्ञका फल वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण-ने अर्जुनके श्रेयःसम्बन्धी प्रश्नका उत्तर दिया कि यदि सब अपने-अपने धर्मका पालन करते हुए, जो उनका कर्तव्य विश्व-कल्याणकी ओर है, परस्पर एक दूसरेको संतुष्ट और प्रसन्न रक्खें तो समस्त दिव्य शक्तियाँ विश्वका कल्याण करनेमें संलग्न हो जाती हैं। गीताका वचन है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
(३ । ११)

'तुम दिव्य शक्तियोंको प्रसन्न रक्खो तो दिव्य शक्तियाँ तुम्हें प्रसन्न रक्खेंगी और इस प्रकार परस्पर एक दूसरेके हितमें कर्तव्यका पालन करते हुए तुम परम श्रेयःके अधिकारी बनोगे।' इसी भावमें दूसरा श्लोक है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
(गीता ३ । १४)

'अन्नसे जीवोंका पालन होता है, अन्न वृष्टिद्वारा उत्पन्न होता है, वृष्टि यज्ञद्वारा होती है और यज्ञ जीवोंके कर्मद्वारा सम्पादन होता है।' यह कर्तव्य-धर्मके पालनका एक सहकारी चक्र है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥
(गीता ३ । १६)

'जो इस पारस्परिक सहकारिताके सृष्टिनियमरूपी चक्रके अनुरूप नहीं चलता, और स्वार्थवश इन्द्रियोंके भोग-विलासमें रत अपने कर्तव्यधर्मके पालनमें प्रमाद करता है उसका जीवन ही व्यर्थ है।'

इस उपदेशके साथ ही भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि अर्जुन! यज्ञके भावको भलीभाँति समझनेके लिये यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
(गीता ४ । ३३)

'जो यज्ञ द्रव्यसाध्य हैं, जिनमें प्रचुर धनका व्यय होता है, उनसे अधिक श्रेयःका दाता ज्ञानयज्ञ है। समस्त कर्तव्य-कर्मोंका फल ही ज्ञानकी प्राप्ति है और वे कर्म ज्ञानयज्ञ-की कोटिमें माने जाते हैं।'

ज्ञानको प्राप्त करके तुझे फिर ऐसा मोह नहीं होगा। कोई कितना ही बड़ा पापी हो ज्ञानयज्ञकी नौकाद्वारा भव-समुद्रको तर जाता है। ज्ञानकी अग्नि कर्मको भस्म करके जीवको जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त कर देती है। ज्ञानके समान संसारमें दूसरी वस्तु मनुष्यको पवित्र करनेवाली नहीं है। ज्ञानको प्राप्त करके मनुष्य शीघ्र ही परमशान्तिका अधिकारी बन जाता है। इत्यादि (देखें गीता अध्याय ४ श्लोक ३३ से ३९)

ज्ञानकी यह महिमा सुनकर अर्जुन और भी अधिक भ्रम-में पड़ गया और सोचने लगा कि कहाँ तो कर्मयोग और कहाँ ज्ञानयोग? ज्ञानमें कर्मोंका संन्यास है और कर्मयोगमें कर्म ही कर्मयोगका प्राण है। यदि ज्ञान श्रेयः है तो फिर कर्मपर भगवान् श्रीकृष्णने इतना जोर क्यों दिया। किंकर्तव्यविमूढ होकर पुनः कहने लगा—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥
(गीता ५ । १)

'श्रीकृष्ण! कभी आप कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं और कभी संन्यासकी, जिसमें कर्मोंका त्याग होता है। मैं तो इस समीक्षासे फिर भ्रममें पड़ गया। मुझे तो केवल एक मार्ग बतलाइये जिसके द्वारा निश्चितरूपसे श्रेयःकी प्राप्ति हो। मेरा तो प्रश्न ही यह है कि—

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'

इसपर भगवान् श्रीकृष्णने योग और संन्यासके सम्बन्धमें अर्जुनके भ्रमात्मक विचारको दूर करनेके लिये समझाया कि संन्यासमें भी कर्मका त्याग नहीं है। कर्ममें आसक्ति और उसके फलमें सुख-दुःखके भावका त्याग करना है। और यह भी कहा कि वस्तुतः कर्मयोग और ज्ञानयोगमें, जिन्हें कि दूसरे शब्दोंमें योग और सांख्य कहते हैं, कोई भेद नहीं है। दोनों-में थोड़ा-सा भेद साधनका है; परंतु लक्ष्य और सिद्धान्त दोनों-का एक ही है। हाँ, कर्मयोगमें संन्यासयोगकी अपेक्षा साधन-का कुछ सुभीता है, अतः संन्यासमें भी कर्मकी महिमा है। इसमें शङ्का करनेकी आवश्यकता नहीं है। श्रेयःके विचारसे कर्म, ज्ञान, ध्यान और कर्मफल-त्यागमें कुछ तारतम्य है इसे समझ लें। वह यह है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(गीता १२ । १२)

अभ्याससे ज्ञान अधिक श्रेयः है, ज्ञानसे अधिक ध्यान, और ध्यानसे भी अधिक कर्मफलत्याग श्रेयः है। अभ्यासका अर्थ साधन है जो कर्मद्वारा ही होता है। अतः कर्म और अभ्यासको एक ही समझो, ज्ञान बिना कर्मके फलदायक नहीं होता; क्योंकि ज्ञानद्वारा आत्मा और देहका पूर्ण भेद ज्ञात होता है। अतः ज्ञानयुक्त कर्म अधिक श्रेयस्कर है। परंतु ज्ञानका भी निरन्तर बना रहना आवश्यक है, जो ध्यानद्वारा सम्भव है। अतः निरन्तर ध्यानयुक्त ज्ञानपूर्वक कर्म उससे भी अधिक श्रेयस्कर है। इससे भी अधिक श्रेयः कर्मफल-त्यागमें है अर्थात् जो कर्म निरन्तर ध्यानयुक्त ज्ञानसहित किया जाय और उसके फलमें आसक्ति और दुःखका भान न हो, सिद्धि और असिद्धि, लाभ और हानि दोनोंमें मनुष्य एकरस रहे तो इससे शाश्वत शान्तिकी प्राप्ति होती है और यह श्रेयः सर्वोपरि है। अतः कर्म, ज्ञान और त्याग आदिमें श्रेयःके विचारसे कोई पृथकता नहीं है। सबका सहयोग आवश्यक है, किसी एककी भी किसी मात्रामें कमी श्रेयःमें उतनी ही कमीका कारण बन जाती है। निष्काम कर्मके ये सब अङ्ग हैं और इसीके द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धिका परम श्रेयः प्राप्त होता है। ऐसा ही श्रेयः जीवनका अन्तिम लक्ष्य है जिससे कि जीवात्मा जन्म-मरणके चक्रसे छूटकर मोक्षका अनुत्तम लाभ प्राप्त कर लेता है।

इसके पश्चात् भक्ति और यज्ञकी विशद व्याख्या करते हुए अन्तमें दैवी सम्पद्द्वारा श्रेयःकी प्राप्तिका साधन वर्णन किया, जिसके सम्बन्धमें बतलाया कि आचरणके विचारसे सम्पद् दो प्रकारकी होती है—एक दैवी और दूसरी आसुरी। गीता कहती है—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
(१६ । ५)

'दैवी सम्पद्द्वारा, जिसमें अभय, सत्त्वसंशुद्धि और ज्ञानयोगव्यवस्थिति, दान, शम, दम आदिका समावेश है, मोक्षरूपी श्रेयः प्राप्त होता है और आसुरी सम्पद्द्वारा, जिसमें दम्भ, दर्प, पाखण्ड इत्यादि सम्मिलित हैं, संसारका बन्धन होता है। इस आसुरी सम्पद्में सबसे अधिक अनिष्टकारक काम, क्रोध और लोभ हैं, जिनके सम्बन्धमें गीता कहती है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
(१६ । २१-२२)

'आसुरी सम्पद्के मूलाधार काम, क्रोध और लोभ हैं, जो नरकके तीन द्वार कहलाते हैं। ये आत्माका हनन करते हैं अतः इन तीनोंका त्याग करना चाहिये। जो मनुष्य इन तीनों दोषोंसे, जो तमोगुणमें फँसानेवाले हैं, बचता है वह आत्माका श्रेयः सम्पादन करता है, आत्मकल्याणका अधिकारी बन जाता है और परमगतिको प्राप्त होता है।'

श्रेयःके साधन और सिद्धान्तोंकी इतनी समीक्षा करनेके पश्चात् अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने गीताके अठारहवें अध्यायमें फिर बतलाया कि श्रेयःकी प्राप्तिका प्रधान साधन कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग तीनों तथा तत्तत्सम्बन्धी स्वधर्मका पालन करना है। उसके पालन करनेमें प्राणतक चले जायँ तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये। सार तत्त्व यह है कि श्रेयः साध्य है और स्वधर्मपालन करना उसका साधन है। श्रेयःकी प्राप्ति ही जीवनका प्रधान और अन्तिम लक्ष्य है, जिसमें जन्म-मरणसे विमुक्ति मिलती है। अतः स्वधर्मपालनके साधनद्वारा इस प्रधान लक्ष्यकी सिद्धि करनी चाहिये।

मन रे चिन्ता मत कर कल की।
अब के सुखको अनुभव कर ले, किसे खबर है पल की ॥
धन्यवादके साथ ग्रहण कर आज मिला जो तुझ को।
पूरा पूरा अनुभव कर ले इस क्षणके इस सुख को ॥
किसे पता है इस क्षण का, यह सुख विराट हो जाए।
कौन जानता है इस क्षण का अन्त न आने पाए ॥
सुख से करो कार्य सब अपने, खुशियाँ खूब मनाओ।
जो मिलता है उसे ग्रहण कर गीत खुशी के गाओ ॥
है प्रसन्नता आज आज की, चिन्ता कल है कल की।
कल का कार्य आज कर ले पर चिन्ता मत कर कल की ॥
(रचयिता—श्रीमधुसूदन ज्ञानेश्री)

दिव्य प्रेम

(हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक भाषणसे)

प्रेमकी सबसे पहली और एकमात्र मुख्य शर्त है—'स्व-सुख-वाञ्छाकी कल्पनाका भी अभाव ।' एक बड़ी सुन्दर निकुञ्ज लीला है । एक सखीने नखशिख शृङ्गार किया । ऐसा कि, जो प्राणप्रियतम श्यामसुन्दरको परम सुख देनेवाला था । उसने दर्पणमें देखा और वह चली श्यामसुन्दरको दिखाकर उन्हें सुखी करनेकी मधुर लालसासे । प्रियतम श्यामसुन्दर निभृत निकुञ्जमें कोमल कुसुम और किसलयकी सुरभित शय्यापर शयन कर रहे हैं । अलसायी आँखोंमें नींद छायी है, बीच-बीचमें पलक खुलती है, पर तुरंत ही बंद हो जाती है । प्रेममयी गोपी आयी है अपनी शृङ्गारसुषमासे श्यामसुन्दर-को सुखी करनेके लिये । उसके मनमें स्व-सुखकी तनिक भी वाञ्छा नहीं है ; पर श्यामसुन्दर सो रहे हैं, वह चाहती है, एक बार देख लेते तो उन्हें बड़ा सुख होता । उसके हाथमें कमल था, उसके परागको वह उड़ाने लगी । सोचा, कोई परागकण प्रियतम श्यामसुन्दरके नेत्रोंमें पड़ जायगा तो कुछ क्षण नेत्र खुले रह जायँगे । इतनेमें वे मेरे शृङ्गारको देख लेंगे, उन्हें परम सुख होगा ।

इसी बीचमें नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानी वहाँ आ पहुँचीं । उन्होंने प्यारी सखीसे पूछा—'क्या कर रही हो ?' सखीने सब बताया । श्रीराधारानी स्वयं स्वभावसे ही श्यामसुन्दरका सुख चाहती हैं । पर यहाँ सखीकी यह चेष्टा उन्हें ठीक नहीं लगी । उन्होंने कहा—'सखी ! तुम्हारा मनोभाव बड़ा मधुर है, पर श्यामसुन्दरको जब तुम सुखी देखोगी, तब तुम्हें अपार सुख होगा न ? किंतु श्यामसुन्दरके इस सुखसे तुमको तभी सुख मिलेगा, जब उनकी सुखनिद्रामें विघ्न उपस्थित होगा । इस आत्मसुखके लिये, उनकी सुख-निद्रामें बाधा उपस्थित करना कदापि उचित नहीं है ।' सखी-ने केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही शृङ्गार किया था, परंतु इसमें भी स्व-सुखकी छिपी वासना थी; इस बातको वह नहीं समझ पायी थी । प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म दर्शन करनेवाली प्रेम-स्वरूपा श्रीराधिकाजीने इसको समझा और सखीको रोक दिया । सखी प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म परिचय पाकर प्रसन्न हो गयी ।

गोपी चाहती हैं श्रीश्यामसुन्दरके चरणकमल हमारे हृदयको स्पर्श करें, उन्हें इसमें अपार सुख भी मिलता है और वे यह भी जानती हैं, इससे प्रियतम श्यामसुन्दरको भी महान् सुख होता है, तथापि वे जितनी विरहव्यथासे व्यथित हैं उससे कहीं अधिक व्यथित इस विचारसे हो जाती हैं कि हमारे वक्षोजसे प्रियतमके कोमल चरणतलमें कहीं आघात न लग जाय । वे रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतमें गाती हैं—

> यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
> भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
> तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
> कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥
> (श्रीमद्भा० १० । ३१ । १९)

'तुम्हारे चरण कमलसे भी अधिक कोमल हैं । उन्हें हम अपने कठोर उरोजोंपर भी बहुत ही डरते-डरते धीरेसे रखती हैं कि कहीं उनमें चोट न लग जाय । उन्हीं कोमल चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर अरण्यमें घूम रहे हो, यहाँके नुकीले कंकड़-पत्थरों आदिके आघातसे क्या उन चरणोंमें पीड़ा नहीं होती ? हमें तो इस विचारमात्रसे ही चक्कर आ रहा है । हमारी चेतना लुप्त हुई जा रही है । प्राणप्रियतम श्यामसुन्दर ! हमारा जीवन तो तुम्हारे लिये ही है । हम तुम्हारी ही हैं ।' अतः इस प्रेम-राज्यमें किसी भी प्रकारसे निज सुखकी कोई भी वाञ्छा नहीं होती । इसीसे इसमें 'सर्वत्याग' है,—त्यागकी पराकाष्ठा है । 'प्रेम' शब्द बड़ा मधुर है और प्रेमका यथार्थ स्वरूप भी समस्त मधुरोंमें परम मधुरतम है । परंतु त्यागमय होनेसे यह पहले है—बड़ा ही कटु, बड़ा ही तीखा । अपनेको सर्वथा खो देना है—तभी इसकी कटुता और तीक्ष्णता महान् सुधामाधुरीमें परिणत होती है । गोपीमें वस्तुतः निज सुखकी कल्पना ही नहीं है, फिर अनुसंधान तो कहाँसे होता ? उसके शरीर, मन, वचनकी सारी चेष्टाएँ और सारे संकल्प अपने प्राणाराम श्रीश्यामसुन्दरके सुखके लिये ही होते हैं, इसलिये उसमें चेष्टा नहीं करनी पड़ती । यह प्रेम न तो साधन है, न अस्वाभाविक चेष्टा है, न इसमें कोई परिश्रम है । प्रेमास्पदका सुख ही प्रेमीका स्वभाव है, स्वरूप है । 'हमारे इस कार्यसे प्रेमास्पद सुखी होंगे'—यह विचार उसे त्यागमें प्रवृत्त नहीं करता । सर्वसमर्पित जीवन होनेसे उसका त्याग सहज होता है । अभिप्राय यह कि उसमें श्रीकृष्ण-सुख-काम स्वाभाविक है, कर्तव्यबुद्धिसे नहीं है ।

उसका यह 'श्रीकृष्णसुखकाम' उसका स्वरूपभूत लक्षण है।

प्राणप्रियतम भगवान् श्यामसुन्दरका सुख ही गोपीका जीवन है। इसे चाहे 'प्रेम' कहें या 'काम'। यह 'काम' परम त्यागमय सहज प्रेष्ठसुख-रूप होनेसे परम आदरणीय है। मुनिमनोऽभिलषित है। 'काम' नामसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है। 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'। भगवान्ने धर्मसे अविरुद्ध कामको अपना स्वरूप बतलाया है। भगवान्ने स्वयं कामना की 'मैं एकसे बहुत हो जाऊँ' 'एकोऽहं बहु स्याम्।' इसी प्रकार 'रमण' शब्द भी भयानक नहीं है। भगवान्ने एकसे बहुत होनेकी कामना क्यों की? इसीलिये कि अकेलेमें 'रमण' नहीं होता—'एकाकी न रमते।' यहाँ भी 'काम' और 'रमण' शब्दका अर्थ गंदा कदापि नहीं है, इन्द्रिय-भोगपरक नहीं है। मोक्षकी कामनावालेको 'मोक्षकामी' कहते हैं। इससे वह 'कामी' थोड़े ही हो जाता है। इसी प्रकार गोपियोंका 'काम' है—एकमात्र 'श्रीकृष्ण-सुख-काम।' और यह काम उनका सहजस्वरूप हो गया है। इसलिये यह प्रश्न ही नहीं आता कि गोपियाँ कहीं यह चाहें कि हमारे इस 'काम' का कभी किसी कालमें भी नाश हो। वह काम ही उनका गोपीस्वरूप है। इसका नाश चाहनेपर तो गोपी गोपी ही नहीं रह जाती। वह अत्यन्त नीचे स्तरपर आ जाती है, जो कभी सम्भव नहीं है।

गोपीकी बुद्धि, उसका मन, उसका चित्त, उसका अहंकार और उसकी सारी इन्द्रियाँ प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके सहज साधन हैं; न उसमें कर्तव्यनिष्ठा है, न अकर्तव्यका बोध; न ज्ञान है न अज्ञान; न वैराग्य है न राग; न कोई कामना है न वासना—बस, श्रीकृष्ण-सुखके साधन बने रहना ही उसका स्वभाव है। यही कारण है कि परम निष्काम, आत्मकाम, पूर्णकाम, अकाम आनन्दघन श्रीकृष्ण गोपी-प्रेमामृतका रसास्वादनकर आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। जो आनन्दके नित्य आकर हैं, आनन्दके अगाध समुद्र हैं, आनन्दस्वरूप हैं; जिनसे सारा आनन्द निकलता है, जो आनन्दके मूल स्रोत हैं, जिनके आनन्दसीकरको लेकर ही जगत्में सब प्रकारके आनन्दोंका उदय होता है, उन भगवान्में आनन्दकी चाह कैसी? उनमें आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा कैसी? यह बात दार्शनिककी कल्पनामें नहीं आ सकती। परंतु प्रेमराज्यकी बात ही कुछ विलक्षण है। यहाँ आनन्दमयमें ही आनन्दकी चाह है। इसीसे भगवान् श्यामसुन्दर प्रेमियोंके प्रेमरसका आस्वादन करनेके लिये व्याकुल हैं। यशोदा मैयाका स्तन-पान करनेके लिये भूखे गोपाल रोते हैं; गोप-सखाओं और बछड़ोंके खो जानेपर कातर हुए कन्हैया उन्हें वन-वन ढूँढ़ते-फिरते हैं, व्रजसुन्दरियोंका मन हरण करके उन्हें अपने पास बुलानेके लिये गोपीजन-वल्लभ उनके नाम ले-लेकर मधुर मुरलीकी तान छेड़ते हैं। प्रेममें यही विलक्षण महामहिम मधुरिमा है।

प्रेम भगवान्का स्वरूप ही है। प्रेम न हो तो रूखे-सूखे भगवान् भाव-जगत्की वस्तु रहें ही नहीं। आनन्दस्वरूप यदि आनन्दके साथ इस प्रकार आनन्दरसका आस्वादन न करें, उनकी आनन्दमयी आह्लादिनी शक्ति उन्हें आनन्दित करनेमें प्रवृत्त न हो, तो केवल स्वरूपभूत आनन्द बड़ा रूखा रह जाता है। उसमें रस नहीं रहता। इसलिये वे स्वयं ही अपने ही आनन्दका अनुभव करनेके लिये अपनी ही स्वरूपभूता आनन्दरूपा शक्तिको प्रकट करके उसके साथ आनन्द-रसमयी लीला करते हैं। यह आनन्द बनता नहीं। पहले नहीं था, अब बना, सो बात नहीं है। प्रेम नित्य, आनन्द नित्य—दोनों ही भगवत्स्वरूप। आनन्दकी भित्ति प्रेम और प्रेमका विलक्षण रूप आनन्द। इस प्रेमका कोई निर्माण नहीं करता। जहाँ त्याग होता है, वहीं इसका प्राकट्य—उदय हो जाता है। जहाँ त्याग, वहाँ प्रेम; और जहाँ प्रेम, वहीं आनन्द। कहीं भी द्वेषसे, वैरसे आनन्दका उदय हुआ हो तो बताइये? असम्भव है। भगवान् प्रेमानन्द-स्वरूप है। अतएव भगवान्की यह प्रेमलीला अनादिकालसे अनन्तकालतक चलती ही रहती है। न इसमें विराम होता है, न कभी कमी ही आती है। इसका स्वभाव ही वर्धनशील है।

समस्त जगत्के जीव-जीवनमें भी आंशिकरूपमें विभिन्न प्रकारसे प्रेमकी ही लीला चलती है। माता-पिताके हृदयका वात्सल्य-स्नेह, पत्नी-पतिका माधुर्य, मित्रका पवित्र सख्यत्व, पुत्रकी मातृ-पितृ-भक्ति, गुरुका स्नेह, शिष्यकी गुरु-भक्ति—इस प्रकार विभिन्न विचित्र धाराओंमें प्रेमका ही प्रवाह बह रहा है। यह प्रेम त्यागसे ही विकसित होता और फूलता-फलता है। जगत्में यदि यह प्रवाह सूख जाय, संतानको माता-पिताका वात्सल्य न मिले, पति-पत्नीका माधुर्य मिट जाय, मित्र-बन्धुओंके सखाभावका नाश हो जाय, गुरु-शिष्यकी स्नेह-भक्ति न रहे, और माता-पिताको पुत्रकी विशुद्ध श्रद्धा-सेवा न मिले तो जगत् भयानक हो जाय। कदाचित् ध्वंस हो जाय। या फिर जगत् क्रूर राक्षसोंकी ताण्डवस्थली बन जाय! अतएव

त्यागमय प्रेमकी बड़ी आवश्यकता है । यही प्रेम जब सब जगहसे सिमटकर एक भगवान्‌में लग जाता है, तब वह परम दिव्य हो जाता है । इसी एकान्त विशुद्ध प्रेमकी निर्मल मूर्ति है—गोपी । और उस प्रेमका पुञ्जीभूत रूप ही हैं—श्यामसुन्दर—'पुञ्जीभूतं प्रेमगोपाङ्गनानाम्'

जहाँ स्व-सुखकी वाञ्छा है, वस्तु अपने लिये है, वहीं वह 'भोग' है । वही वस्तु भगवान्‌के समर्पित हो गयी तो 'सेवा' है । 'स्व-सुख-वाञ्छा'को लेकर हम जो कुछ भी करते हैं, सब भोग है, उसी कामको भगवत्-समर्पित करके हम सुखी होते हैं तो वह प्रेम है । घरकी कोई चीज, मनकी कोई चीज, जीवनकी कोई चीज जबतक 'स्वसुख'के लिये है तबतक 'भोग' हैं और जबतक भोग हैं, जब उनका इन्द्रियोंके साथ भोग्य-सम्बन्ध है, तबतक उनसे दुःख उत्पन्न होता रहेगा । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५ । २२)

'जो भी संस्पर्शज भोग हैं, वे सभी दुःखकी उत्पत्तिके क्षेत्र हैं और आदि-अन्तवाले हैं, इसलिये भैया अर्जुन ! बुद्धिमान् लोग उनमें प्रीति नहीं रखते ।'

पर ये ही सब भोग जब स्व-सुखकी इच्छाका परित्याग करके पर-सुखार्थ भगवदर्पित हो जाते हैं तो इन्हींको 'भगवान्‌की सेवा' कहा जाता है । यही प्रेम है । गोपीप्रेम इसीसे स्व-सुख-वाञ्छासे सर्वथा रहित परम उज्ज्वल है । यहाँ पूर्ण समर्पण हो चुकनेपर भी नित्य समर्पणकी लीला चलती रहती है । प्रतिक्षण समर्पण होता रहता है । यों समर्पण होते-होते समर्पण क्रिया भी विस्मृत होने लगती है और फिर, 'ग्रहण' भी समर्पणरूप, त्यागरूप बन जाता है; क्योंकि उसमें भी प्रियतमके सुखकी ही निर्मल वाञ्छा रहती है

पर इस 'ग्रहणमें' प्रेमकी पहचान बहुत कठिन है । हम हलवा खा रहे हैं, हमें उसके मिठासका स्वाद आ रहा है तथा हमें सुख मिल रहा है । यह हलवा खाना तथा उसमें मिठास तथा सुखकी अनुभूति—स्व-सुखके लिये हो रही है, या प्रेमास्पदके सुखके लिये—इसका परीक्षण बहुत कठिन है । इसका यथार्थ स्वरूप वही जानते हैं, जो प्रेमके इस स्तरतक पहुँच गये हैं । प्रेमीको स्वाद आ रहा है पर स्वादके सुखका ग्रहण वह तभी करता है, जब कि उससे प्राणधन प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको सुख होता हो । स्वाद प्रेमीको आता है, परंतु यदि प्रेमास्पदको उसमें सुख नहीं है तो वह स्वाद कभी प्रेमीको इष्ट नहीं है । हलवाका मिठास लेते-लेते यह मालूम हो जाय कि प्रेमास्पद चाहते थे कि तुम मीठा हलवा न खाकर कड़वा नीम खाते तो तुरंत हलवा उसके लिये कड़वा हो जायगा, बुरी चीज बन जायगा और वह नीम खाने लगेगा । यहीं पता लगता है कि 'ग्रहण' स्व-सुखकी वाञ्छासे था या प्रेमास्पदके सुखके लिये । यही बात कपड़े पहनने, सोने, जागने, जगत्‌के सारे व्यवहार करनेमें है । प्रत्येक क्रियामें प्रेमास्पदका सुख ही एकमात्र इष्ट होना चाहिये । प्रेमीको यह पता लग जाय कि प्रेमास्पद हमारे मरणमें प्रसन्न है तो प्रेमीके लिये एक क्षण भी जीवन—धारण करना परम दुःखरूप हो जायगा ।

यों प्रेमास्पदके सुखका जीवन जिनका बन जाता है, उनको प्रेमास्पद प्रभुके मनकी बात खोजनी नहीं पड़ती । वह उसके सामने स्वयं प्रकट रहती है । प्रेमास्पदका मन उस प्रेमीके मनमें आ विराजता है । इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे श्रीगोपसुन्दरियोंके सम्बन्धमें कहा है—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ॥

'मेरी महिमा, मेरी सेवाका स्वरूप, मेरी श्रद्धाका स्वरूप तथा मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपिकाएँ ही जानती हैं । हे अर्जुन ! दूसरा कोई नहीं जानता ।'

इसलिये गोपीको यह पता नहीं लगाना पड़ता कि भगवान् किस बातसे प्रसन्न होंगे । उनके अंदर भगवान्‌का मन ही काम करता है । भगवान्‌ने स्वयं श्रीउद्धवजीसे कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ४)

'वे मेरे मनवाली हैं, मेरे प्राणवाली हैं, मेरे लिये अपने दैहिक वस्तुओं तथा कार्योंका सर्वथा परित्याग कर चुकी हैं ।' श्रीकृष्ण ही गोपियोंके मन हैं । श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं । उनके सारे संकल्प तथा सारे कार्य श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ या श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही होते हैं ।

प्रेमकी बड़ी ही विचित्र गति होती है । वह महागम्भीर है और महाचञ्चल है । प्रेमीमें प्रेमका अगाध समुद्र प्रशान्त-भावसे स्थिर हो जाता है, परंतु जैसे पूर्ण चन्द्रमाको देखकर महासमुद्र नाचने लगता है, उसी प्रकार प्रेमास्पद भगवान्‌के प्रसन्न श्रीमुखको देखकर उनके सुखार्थ उस प्रेम-महासागरमें लहरें—तरङ्गें उठने लगती हैं । ये तरङ्गें ही प्रेमलीला है ।

गोपियोंके जीवनमें इन प्रेम-तरङ्गोंके अतिरिक्त अन्य कोई भी क्रिया नहीं है। प्रेमकी ही ये उच्छ्वसित ऊर्मियाँ हैं जो नाच-नाचकर प्रेमसुधाका अधिकाधिक मधुर रसास्वादन कराया करती हैं। ये तरङ्गें कभी अत्यन्त उत्ताल हो जाती हैं, कभी मृदु बन जाती हैं; कभी बहुत ऊपर उछलती हैं, कभी मन्द-मन्द उठती-बैठती हैं; कभी सीधी होती हैं, कभी दायें-बायें हो जाती हैं। प्रेममें दो तरहके भाव होते हैं—दक्षिण और वाम। दक्षिण भावसे भी और वामभावसे भी—परस्पर प्रेम-लीलाएँ चलती रहती हैं। जहाँ प्रेमानन्दमयी श्रीराधारानी या गोपाङ्गनाओंका वामभाव होता है, वहाँ प्रियतम श्यामसुन्दर उन्हें मनाया करते हैं और जहाँ प्रेमधन श्रीश्यामसुन्दरका वामभाव होता है वहाँ श्रीराधारानी या श्रीगोपाङ्गनाएँ उनको मनाया करती हैं। मधुर मनोहर प्रेमसमुद्रके 'विरहतट' पर कभी 'विप्रलम्भ'रसका आस्वादन होता है तो कभी 'मिलनतट' पर 'सम्भोग'रसका आस्वादन होता है। फिर, कभी मिलनमें ही विरहकी स्फूर्ति हो जाया करती है—

प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तं प्रेमवैचित्त्यमुच्यते॥

'प्रेमकी उत्कर्षताके कारण प्रियतमके समीप रहनेपर भी उनके न रहनेके निश्चयसे होनेवाली पीड़ाका अनुभव होना—प्रेम-वैचित्त्य कहलाता है।' इस प्रकार प्रेमसागरमें अनन्त मधुरातिमधुर तरङ्गें उठा करती हैं। इनका वर्णन कौन करे? जो तटपर खड़ा है, वह तो तरङ्गोंके भीतरकी स्थिति जान नहीं सकता और जो तरङ्गोंमें मिल गया वह तरङ्ग ही बन जाता है। इसीसे प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है—'प्रेमस्वरूपं अनिर्वचनीयम्।'

कभी-कभी ऐसा होता है—प्रेमी और प्रेमास्पद अपने-आपको भूलकर एक दूसरे बन जाते हैं। नटवर रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर अपनेको राधा मानकर हा कृष्ण! हा श्यामसुन्दर! हा प्राणवल्लभ! पुकारने लगते हैं और रासेश्वरि नित्य निकुंजेश्वरि श्रीराधारानी श्रीकृष्णके आवेशमें हा राधे! हा प्राणेश्वरी प्राणाधिके! हा मनमोहनी! पुकारा करती हैं। ये सभी प्रेमसमुद्रकी पवित्रतम मधुर-मधुर तरङ्गें हैं। यह श्रीराधा-माधवका प्रेम, प्रेमविहार, प्रेमलीला नित्य है और नित्य वर्द्धनशील है, इसीसे उनका अप्रतिम आनन्द भी नित्य और प्रतिक्षण बर्द्धनशील है। किसी-किसी युगमें कोई ऐसे प्रेमी संत होते हैं जो इस प्रेमलीलाका दर्शन करना चाहते हैं। तब उनकी प्रीतिसे प्रेरित होकर भगवान् अपने दिव्य धाम तथा प्रेमी परिकरों, सखाओं, सखियोंको लेकर, दिव्यधामके दिव्य चिन्मय पशु-पक्षियों और वृक्ष-लताओंको लेकर इस मर्त्य भूमिपर अवतरित होते हैं। यही भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी अवध-लीला है और यही श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी व्रजलीला है। इस प्रेम-राज्यमें उन्हींका प्रवेश है जो अपनेको खोकर, स्व-सुखकी समस्त वाञ्छाओंको मिटाकर भगवान्के ही हो जाते हैं। इस प्रकार त्यागकी पराकाष्ठासे उदित दिव्य प्रेमको वैष्णवोंने 'पञ्चम पुरुषार्थ' बताया है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चार पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं। प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है, जहाँ मोक्षकी कामनाका भी परित्याग हो जाता है। प्रेम-सेवाको छोड़कर प्रेमी भक्त देनेपर भी मुक्तिका स्वीकार नहीं करते।

'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।'

यहीं त्यागकी पराकाष्ठा है। इसमें अहंकी चिन्ता या अहंकी मङ्गल कामनाका सर्वथा अभाव है। जहाँ मोक्षकी कामना है, वहाँ बन्धनकी अपेक्षा है। बन्धन न हो तो मोक्ष—छुटकारा किससे? और बन्धन किसीको होता है। जो बँधा है, वही छुटकारा चाहता है। अतः बन्धनकी अनुभूति और बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा—इसीका नाम 'मुमुक्षा' है और यह जिसमें है, उसीको 'मुमुक्षु' कहते हैं। छुटकारेकी इच्छामें ही बन्धनकी अनुभूति है, जिसको इस बन्धनकी अनुभूति है वही बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा करता है—हम उसको चाहे मुमुक्षु कहें—चाहे जिज्ञासु या साधक। कुछ भी कहें, उसमें 'अहं' है और वह 'अहं' का मङ्गल चाहता है। पर प्रेम-राज्यमें तो अहंकी चिन्ता ही नहीं है, 'स्व' की सर्वथा विस्मृति है। प्रेमास्पदका सुख ही जीवन है। इसीसे यह 'पञ्चम पुरुषार्थ' है।

गीताके अन्तिम अध्यायका नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' है। 'मोक्षसंन्यास'का यह अर्थ किया जाय कि इसमें 'मोक्षके भी परित्याग'का विषय है। वही तो 'शरणागति' है। यह तो मानना ही चाहिये कि जिस अर्जुनको भगवान्ने रणाङ्गणमें प्रत्यक्ष समझाकर गीताका उपदेश किया, जिसको अपना अत्यन्त प्रिय इष्ट और अधिकारी बताया, जिसके हितके लिये ही उपदेश किया।

'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥'

उस अर्जुनने गीताको जितना अच्छा समझा है, उतना और किसने समझा होगा? अर्जुनका जीवन गीताके अनुसार

जितना बना होगा, उतना और किसका बनेगा, अर्जुन तो स्वीकार करता है कि 'मेरा मोह नाश हो गया और मैं आपके वचनोंका पालन करूँगा।' और यहींपर गीता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार गीताका अर्थ समझनेवालेकी जो गति हुई होगी, वही गीता-वक्ताके उपदेशका फल होना चाहिये। अब महाभारतमें देखिये—अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष' की प्राप्ति हुई या और कुछ मिला। महाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें कथा है—

'देवताओं, ऋषियों और मरुद्गणोंके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनते हुए महाराज युधिष्ठिर भगवान्‌के दिव्य धाममें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपना ब्राह्मविग्रह धारण किये विराजमान हैं। उनका स्वरूप पूर्व देखे हुए विग्रहके ही सदृश है, अतः वे भलीभाँति पहचाननेमें आ रहे हैं। उनके दिव्य श्रीविग्रहसे दिव्य ज्योति फैल रही है। उनके सुदर्शन चक्रादि आयुध देवताओंके शरीर धारण किये हुए उनकी सेवामें लगे हैं। वहीं अत्यन्त तेजस्वी वीरवर अर्जुन भी भगवान्‌की सेवामें संलग्न है। देवपूजित भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी युधिष्ठिरको आये देख उनका यथारीति सत्कार किया।......'

इससे समझमें आ जाना चाहिये कि अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष' नहीं मिला। उन्हें भगवान्‌की 'प्रेम-सेवा' प्राप्त हुई। शरणागतिसे अर्जुनका मोह नष्ट हो गया—'नष्टो मोहः।' अतएव संसारसे मुक्ति होनेका काम तो हो ही गया। बन्धन रह गया केवल भगवान्‌की प्रेमसेवाका, जो शरणागत अर्जुन और गीतावक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंको ही इष्ट है। अर्जुनसे भगवान्‌ने मानो कह दिया—"तुम्हारा मोह नाश हो गया। तुम मेरे सेवक थे, सेवक ही रहोगे। मोहवश कह रहे थे,—'मैं यह नहीं करूँगा' 'यह करूँगा' अब तुम मेरे वचनोंका ही अनुसरण करोगे। बस, काम हो गया। तुम मेरे चिर सेवक ही रहो। तुम्हें मोक्षसे क्या मतलब।" यही मोक्ष-संन्यास है। प्रेमी मोक्षका भी संन्यास कर देता है—यह अभिप्राय है।

मोक्षसंन्यासका यथार्थ अर्थ क्या है, मुझे पता नहीं; मुझे गीताका न अध्ययन है, न ज्ञान। यह तो मैंने स्वान्तः-सुखाय अपने मनका अर्थ कह दिया है। वैसे न मैं जानता हूँ, न शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ, न विवाद, मैं तो सदा ही हारा हुआ हूँ। गीतामर्मज्ञ विज्ञ महानुभाव मेरी धृष्टताके लिये कृपया क्षमा करें!

इतना अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि जबतक मोक्षकी इच्छा है तबतक स्व-सुख-वाञ्छा है ही; क्योंकि इसमें अपने बन्धनकी अनुभूति है। बन्धन दुःखरूप है उससे मुक्ति प्राप्त कर वह मोक्ष-सुखको प्राप्त करना चाहता है। यही स्व-सुखकी चाह है। अतः यहाँ भी सर्वत्याग—पूर्ण त्याग नहीं है, प्रेमीजन पूर्ण त्यागी होते हैं अतः वे मोक्षका भी परित्याग करके केवल प्रेमसेवामें ही सहज संलग्न रहते हैं।

ऐसे प्रेमियोंकी तो बात ही दूसरी है, उनके जरासे सङ्गके साथ भी मोक्षकी तुलना नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
> भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
>
> (१।१८।१३; ४।३०।३४)

'भगवत्सङ्गीका अर्थ है—भगवान्‌में अनुरक्त—आसक्त, भगवान्‌का सङ्गी, भगवान्‌का प्रेमी, गोपीभावापन्न। ऐसे भगवत्सङ्गीका सङ्ग यदि लव मात्रके समयके लिये मिलता हो तो उसकी तुलना यहाँके भोगोंकी तो बात ही क्या है, स्वर्गसे भी नहीं होती, वरं अपुनर्भव—मोक्षसे भी नहीं होती। 'अपुनर्भव' का अर्थ है—जिससे वापस नहीं लौटा जाता, वैसी 'सायुज्य मुक्ति'। इस मुक्तिकी भी लव मात्रके भगवत्सङ्गीके सङ्गसे तुलना नहीं होती। यह भगवत्प्रेमकी महिमा है। इसीसे इस प्रेमकी—इस दिव्य भगवत्प्रेमकी—व्रजरसकी वाञ्छा शिवनारदादि, महान् मुनि-तपस्वी आदि करते हैं। स्वयं ब्रह्मविद्या भी इस प्रेमके लिये लालायित हैं—

जाबालि नामक ब्रह्मज्ञानी मुनिने एक बार विशाल वनमें विचरते समय एक विशाल बावलीके तटपर वटवृक्षकी छायामें एक अनन्य सुन्दरी परम तेजोमयी तरुणी देवीको कठोर तप करते देखा। चन्द्रमाकी शुभ्र ज्योत्स्नाके सदृश उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसे देखकर मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने यह जानना चाहा कि 'ये देवी कौन हैं तथा क्यों तपस्या कर रही हैं।' पूछनेपर पता लगा कि जिनके शरण प्राप्त करनेपर अज्ञानान्धकार सदाके लिये नष्ट हो जाता है, दुर्लभ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है तथा जीव मायाके बन्धनसे मुक्त होकर स्व-स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वे स्वयं ब्रह्मविद्या ही ये हैं। नम्रताके साथ प्रश्न करनेपर तापसी देवीने कहा—

> ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते।
> साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
> ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः।
> चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम्॥
> तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना।
>
> (पद्मपुराण)

'मैं वह अतुलनीया ब्रह्मविद्या हूँ जिसको महान् योगिराज सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीहरिके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये उनका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे यहाँ तप कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे पूर्ण हूँ, मेरी बुद्धि भी उसी ब्रह्मानन्दसे परितृप्त है। परंतु श्रीकृष्णमें मुझे रति (प्रेम) अभी नहीं मिली, इसलिये मैं अपनेको सदा सूनी देखती हूँ।'

जिस अलौकिक प्रेमके लिये स्वयं ब्रह्मविद्या कल्पोंतक तप करती हैं, जिस रसकी तनिक-सी प्राप्तिके लिये अर्जुन साधना करके अर्जुनी बनते हैं, वह कितना उज्ज्वल, कितना दिव्य, कितना पवित्र और कितना मधुरतम है, इसको कौन बता सकता है। वे गोपरमणियाँ धन्य हैं, जिन्होंने इस प्रेम-रसका आस्वादन किया और प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको करवाकर उनकी परम प्रीति लाभ की। और जिनके सामने भगवान्ने अपना पूर्ण प्रकाश किया।

हम लोगोंके सामने भगवान् अपनेको पूर्णरूपसे प्रकट नहीं करते, 'योगमाया' (अपनी आत्ममाया) से ढके रखते हैं।

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'
(गीता ७। २५)

भगवान्ने कहा—'मैं सबके सामने प्रकाशित क्यों नहीं होता, लोग मुझे पहचानते क्यों नहीं, इसीलिये कि मैं योगमायासे अपनेको ढके रखता हूँ।' परंतु प्रेमवती श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ यह बात नहीं है। वहाँ भगवान् 'योगमायासमावृत' नहीं हैं, वहाँ 'योगमायामुपाश्रित' हैं। अर्थात् अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाको पृथक् प्रकट करके मानो कहते हैं—'मैं इस समय अनावृत हूँ, बेपर्द हूँ, तुम इस नाटककी सारी व्यवस्था करो, लीलाके सारे साज बनाओ।' योगमाया काम करती हैं। भगवान् तथा श्रीगोपाङ्गनाओंकी दिव्य रासलीला होती है। यहाँ कुछ भी गोपन नहीं है। भगवान्की अनावृत लीला है। गोपियोंका चीरहरण क्या है? वह कोई गंदी चीज थोड़े ही है। गंदी चीज होती तो दुर्वृत्त कामियोंको प्रिय होती, और होती अनन्त कालतक नरकोंमें ले जानेवाली। शुकदेवजी परीक्षित्के सामने उसे कहते ही क्यों, पर यह तो सर्वथा लोकविलक्षण दिव्य भावमयी वस्तु है। मल, विक्षेप और आवरण—तीन बड़े बाधक दोष हैं जो आत्मस्वरूप तक, भगवान् तक साधकको नहीं जाने देते। इनमें मलका नाश भजनसे या भगवत्प्राप्तिकी इच्छासे ही हो जाता है। विक्षेप दोष नष्ट हो जाता है भगवान्में मन लगानेसे। वहाँ चञ्चल मन अचञ्चल हो जाता है। रह जाता है—आवरण दोष। यह बड़ा व्यवधान बना रहता है। ज्ञानके साधकोंका यह दोष ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा किये हुए महान् अनुग्रहपूर्ण तत्त्वोपदेशसे दूर होता है और प्रेमी भक्तोंके इस दोषको भगवान् स्वयं दूर कर देते हैं। वे अपने हाथों 'आवरण भंग' कर देते हैं, पर्दा फाड़ डालते हैं। यही गोपियोंका चीर-हरण है। जिस प्रेममें भय, लज्जा, संकोच तथा जरा भी व्यवधान नहीं है, ऐसा स्त्री-पुरुषका—पति-पत्नीका प्रेम हम जगत्में देखते हैं। वहाँ कुछ भी ऐसी वस्तु नहीं रहती जिसे गोपनीय कहा जा सकता है। यही प्रेम जब दिव्य भाव बनकर भगवान्में आ जाता है तथा पति-पत्नीके लौकिक सम्बन्धसे रहित, असम्बन्ध नित्य 'दिव्य सम्बन्धरूप' हो जाता है। तब वहाँ कुछ भी गोपनीय नहीं रहता। तमाम आवरणोंका विनाश हो जाता है। यौन भाव तो वहाँ रहता ही नहीं। यही भगवान् तथा भक्तका अनावरण मिलन है। यहाँ मायाका आवरण हट गया। पृथक्ताका पर्दा फट गया। चीरहरण तथा रासलीलाका अर्थ है—अनावृत (योगमायाके पर्देसे मुक्त) भगवान् और अनावृत (अहंता-ममता-आसक्तिरूप मायाके पर्देसे सर्वथा मुक्त) गोपाङ्गनाओंका महामिलन। जीव और परमात्माका, भक्त और भगवान्का घुल-मिल जाना—एक हो जाना।

यही दिव्य भगवत्प्रेम है। इस प्रेम-राज्यमें जिनका प्रवेश है, उनकी चरण-रज भी परम पावनी है। ज्ञानिशिरोमणि उद्धवजी मोक्ष न चाहकर ऐसी प्रेमवती गोपियोंकी चरण-धूलि प्राप्त करनेके लिये व्रजमें लता-गुल्म-ओषधि बनना चाहते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या—भगवान् स्वयं भी उनके चरण-धूलिकणसे अपनेको पवित्र करनेके लिये उनके पीछे-पीछे सदा घूमा करते हैं—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

'उसके पीछे-पीछे मैं सदा इस विचारसे चला करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूलि उड़कर मुझपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

प्रानधन सुंदर स्याम सुजान।
छटपटात तुम बिना दिवस निसि मेरे दुखिया प्रान॥
बिदरत हियो दरस बिनु छन-छन दुःसह दुखमय जीवन।
अमिलनके अति घोर दाह तें दहत देह इन्द्रिय मन॥
कलपत बिलपत ही दिन बीतत निसा नींद नहिं आवै।
सुपन-दरसहू भयो असंभव कैसे मन सचु पावै॥
अब जनि देर करौ मनमोहन दया नैंक हिय धारौ।
परम सुधामय दरसन दै निज उरकी अगिनि निवारौ॥

हरि ॐ तत्सत्

ध्यान देने योग्य दो बातें

(लेखक—सेठ मोतीलाल माणेकचन्दजी 'प्रतापसेठ')

पहली बात यह है कि हम अभी हैं या नहीं, इस विषयमें बुद्धिको यत्किंचित् भी संदेह नहीं है। साथ ही, बुद्धि इस 'मैं' का अस्तित्व चक्षुरिन्द्रिय या श्रोत्रेन्द्रिय अथवा अन्य किसी प्रमाणद्वारा मानती हो, यह भी बात नहीं। बिना किसी प्रमाणव्यापारके ही अर्थात् 'मैं' को ज्ञानका विषय बनाये बिना ही, बुद्धि 'मैं' का अस्तित्व निश्चयात्मकरूपसे ग्रहण करती है। यह 'मैं' ही बुद्धिकी वास्तविक सत्ता होनेके कारण 'मैं' बुद्धि या ज्ञानका विषय नहीं हो सकता। श्रुति कहती है—

विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्।

जो वस्तु ज्ञानका विषय नहीं होती अर्थात् ज्ञानद्वारा जिसकी सिद्धि नहीं होती, ऐसी वस्तुके विषयमें जन्म, मृत्यु इत्यादि प्रकारके प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकते; न ऐसी वस्तुको कोई परिच्छेद (देश, काल, वस्तुरूप) या मर्यादा ही लग सकती है। बुद्धिको 'मैं' के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थोंके बारेमें अनेक प्रकारकी शङ्काएँ आ सकती हैं। किंतु 'मैं' के विषयमें—'मैं' अभी है या नहीं' इत्यादि विकल्प नहीं उठ सकते। कारण, वहाँपर इस प्रकारके विकल्पों या शङ्काओंको कोई अवकाश ही नहीं।

सच्चा अस्तित्व तो वही कहा जा सकता है जिसके विषयमें किसी भी प्रकारकी शङ्का उत्पन्न होनेकी सम्भावना ही न हो। इस दृष्टिसे एकमात्र 'मैं' का ही अस्तित्व स्वयंसिद्ध, अतएव निस्संदिग्ध है। यह स्वयंसिद्ध, स्वयंप्रकाश 'मैं' ही अस्तित्वकी अन्तिम कसौटी है।

अब दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि—स्वयं वस्तुमें रूप और नाम या अर्थ नहीं होते। वस्तुके रूप और नाम अर्थ बुद्धिमें ही सापेक्षतासे उत्पन्न होते हैं। वस्तुपर समस्त गुण बुद्धिद्वारा ही आरोपित किये जाते हैं। बुद्धि गुणरूपी ऐनक लगाकर वस्तुकी ओर देखती है, तभी उसे रूप, रसादि गुण प्रतीत होते हैं। अन्यथा स्वयं वस्तु तो ब्रह्मरूप ही होती है। इसी न्यायका अतिदेश करके हम कह सकते हैं कि वस्तुमें किये जानेवाले बाह्य और अन्तर, निकट और दूर, अब और तब इत्यादि सदृश भेद या परिच्छेद भी बुद्धिके ही सापेक्षभाव हैं। उदाहरणार्थ, हमारी सुपरिचित कुर्सी लीजिये, जिसपर हम प्रतिदिन बैठते हैं। इस कुर्सीको न तो अपना रूप मालूम है और न 'मैं कुर्सी हूँ' इस प्रकारका अर्थ ही मालूम है। रूप तथा अर्थ ज्ञानमें ही उद्भूत एवं भासित होते हैं। कुर्सी स्वयं जड है। किंतु उसकी जडताका उसे पता नहीं। 'जडता' अर्थ तो ज्ञानमें ही उत्पन्न होता है। हम कहते हैं दूब हरी है। किंतु स्वयं दूबको 'मैं हरी हूँ' इस बातका पता नहीं। उसकी हरियालीका पता तो ज्ञानको ही है। इसी प्रकार हम कहते हैं कि पानी बहता है। किंतु स्वयं पानीको अपनी प्रवहणशीलताका पता नहीं। ज्ञानमें ही उसके बहनेकी क्रियाको अर्थ आता है। इसी प्रकार जगत्के अन्य सब पदार्थोंको रूप और अर्थ ज्ञानमें ही आते हैं और ज्ञानमें ही ये पदार्थ सार्थक होते हैं। ज्ञानके बिना उनकी किसी प्रकारकी अर्थवत्ता नहीं।

उपर्युक्त विवेचनका सीधा अर्थ यह होता है कि विभिन्न वस्तुओंसे युक्त सारा जगत् ज्ञानमें ही बनता है। यह बात हम सहजस्थितिमें होनेवाली हमारी क्रियाओंके उदाहरणसे भलीभाँति समझ सकते हैं। सहजस्थितिमें होनेवाली क्रियाओंको क्रियाओंके रूप और अर्थ नहीं रहते। ये रूप और अर्थ तो जब हम उन्हें अपनी बुद्धिका विषय बनाते हैं, अर्थात् ज्ञानमें लाते हैं, तभी मिलते हैं। इसी प्रकार जगत्की समस्त वस्तुओंको रूप और अर्थ हम अपने ज्ञानद्वारा ही देते हैं। मनुष्येतर प्राणी अपनी क्रियाओंको ज्ञानका विषय नहीं बना सकते। इसीलिये उन्हें अपनी क्रियाओंका ज्ञान नहीं होता। सहज-स्थिति या अनुभवकी दृष्टिसे हमारी तथा मनुष्येतर प्राणियोंकी क्रियाएँ समानतया अपरोक्षस्वरूप होती हैं। अन्तर केवल इतना है कि हम अपनी क्रियाओंको ज्ञानमें ला सकते हैं, या विषय बना सकते हैं, जब कि मनुष्येतर प्राणी उन्हें ज्ञानमें लाकर विषय नहीं बना सकते। किंतु इस कारण उन्हें अपनी क्रियाओंका परोक्ष ज्ञान नहीं होता। विषय बनाना ही ज्ञानका अपर पर्याय है।

यदि हम जगत्के समस्त पदार्थोंमेंसे बुद्धिद्वारा आरोपित रूप तथा अर्थ पृथक् कर लें तो एक शुद्ध सत्ता ही शेष रहेगी। इस शुद्ध सत्तामें तथा उपर्युक्त निस्संदिग्ध अस्तित्वशील 'मैं' में कोई भेद नहीं, शुद्ध सत्ता तथा शुद्ध 'मैं' गीतोक्त

पुरुषोत्तमरूप परम तत्त्व ही है । यदि इस बातका हमें भलीभाँति निश्चय हो जाय और इस सिद्धान्तके अनुसार हमारे सब व्यवहार होने लग जायँ तो हमें 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप तत्त्वका साक्षात्कार हो जाय और हमारी चिद्-अचिद् ग्रन्थिका भेद होकर समस्त संशय तथा कर्म छिन्न और क्षीण हो जायँ—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

इस प्रकारके तत्त्वसाक्षात्कार-सम्पन्न ज्ञानीके समस्त कर्म-धर्म परमात्मारूप हो उठते हैं । महाराष्ट्र संतोंने कहा है—'कर्म धर्म त्याचा झाला नारायण' इसका यह आशय है ।

मांसाहारपर विचार

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

गो-वध-निषेधपर भगीरथ प्रयास करनेपर भी अभी पूर्णरूपसे सफलता नहीं मिल रही है, इसपर कहा जाता है कि यह अमुक-अमुकका आहार है, वह कैसे बंद हो ? परंतु विचार करनेपर सिद्ध होता है कि मांस मनुष्यमात्रका आहार ही नहीं है, यह तो राक्षसों एवं व्याघ्र आदि पशुओंका ही आहार है । शास्त्रोंमें जहाँ-कहीं इसकी चर्चा है, वहाँ निषेध करनेके अभिप्रायसे है । जैसे मनुस्मृति अ० ५ में इसपर बहुत विचार किया गया है । अन्तमें—

निवृत्तिस्तु महाफलाः । (श्लोक ५६)

—यों कहा गया है ।

मनु० ३ । २६७—२७२ में श्राद्धके मांसविषयक प्रकरणके अन्तमें कहा गया है—

आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ।

अर्थात् मुनि-अन्न=नीवार (तिन्नीका चावल) आदि अन्नोंसे पितर अनन्तकाल तृप्त रहते हैं, ऐसा कहा गया है; इसका आशय यह है कि अन्नाहार मांसाहारसे बहुत अच्छा है । अतः मांसाहारियोंको मांस छोड़कर अन्न ही खाना चाहिये । मनु सृष्टिके आदिमें हुए हैं, पहले लोग अन्नके गुण एवं उत्पादन न जानते हुए मांस भी खाते थे, उन्हें इन रीतियोंसे मनुने मांस छुड़ाकर अन्न खानेमें प्रवृत्त करनेकी चेष्टा की है ।

'यज्ञ-विधिमें मांस खाना ग्राह्य है' कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा है, अतः इसपर भी कुछ विचार करना है । वेदोंमें इस प्रकार यज्ञोंके विधान हैं । पर विचार करनेपर इन यज्ञोंके बहिरङ्गभावसे भी मांस-त्यागकी ही शिक्षा मिलती है । जैसे कि एक वर्ष अश्वमेध यज्ञ करनेमें कई लक्ष्य-द्रव्योंके विविध दान करनेपर वह यज्ञ सम्पन्न होता है, तब यजमानको थोड़ा यज्ञावशिष्ट विहित मांस मिलता है । तात्पर्य यह कि इतने दान आदि पुण्य करनेपर उतना मांस खा सकता है; अन्यथा मांस त्याज्य ही है । इस प्रकार विचारनेपर ये यज्ञ-विधान मांस छुड़ानेके ही उपाय हैं ।

वेदोंके अन्तरङ्ग अभिप्राय गूढ़ होते हैं, इसीसे वे परोक्षवादी कहाते हैं । यथा—

परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २१ । ३५)

अर्थात् मन्त्रद्रष्टा ऋषि परोक्षवादी होते हैं, वह भगवान्‌को प्रिय है । परोक्षवादी वेदोंके इन यज्ञोंका पारमार्थिक रूप तो यह है कि यह अहङ्कार-प्रधान शरीर मनुष्यका घोड़ा है, विहित कर्मोंके सम्पादनमें इसे जगत्शरीरी परमात्माकी तुष्टिमें (गीता १८ । ४६ की रीतिसे) आयुपर्यन्त लगा देना, इसका हवन करना है । अहङ्कारकी निष्पत्ति कर्ममूलक अग्निके साहाय्यमें कही भी गयी है ।

यथा—

अहंकारोऽग्निसंजातो रुद्रस्तस्याग्नि देवता । (जिज्ञासापञ्चक)

पृथिवी-तत्त्वके साहाय्यमें बुद्धिकी निष्पत्ति कही गयी है ।

यथा—

बुद्धिर्जाता क्षितेरपि । (जिज्ञासापञ्चक)

वही गौ-रूप है; पृथ्वीका गौ-रूप होकर भार-हरणार्थ प्रार्थना करना कहा ही गया है । इस बुद्धिको ज्ञानाराधनमें आयुपर्यन्त लगा रखना 'गौमेध'-यज्ञ करना है और चित्तका देवता विष्णु शरीररूप जीवात्मा (नर) है, इस चित्तको आयुपर्यन्त उपासनामें लगा रखना इससे 'नरमेध' यज्ञ करना है ।

यह मनुष्य-शरीर मुख्यतः भवतरणके लिये प्राप्त होता है; यथा—

नर तन भव बारिधि कहँ बेरो ।' (मानस उ० ४३)

भव-तरणके उपाय काण्डत्रय (कर्म, ज्ञान, उपासना) हैं;

यथा—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
(श्रीमद्भाग० ११ । २० । ६)

'श्रीभगवान्ने उद्धवजीसे कहा है कि जीवोंके मोक्षके लिये मैंने तीन योग कहे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति; इनसे भिन्न और उपाय कहीं भी नहीं है ।

इस दृष्टिसे वेदोंने तीनों यज्ञोंके द्वारा मनुष्योंके भव-तरणके लिये काण्डत्रयकी शिक्षा दी है । मनुष्योंके लिये यह शिक्षा परमावश्यक है ।

महाभारत आदि० १ । २७१-२७२ में लिखा है कि महाभारत सरहस्य चारों वेदोंसे भी अधिक है । उसका निर्णय भी देखिये । महा० शान्ति० अ० २६५ में अहिंसाप्रतिपादन करते हुए स्पष्ट कहा गया है ।

यथा—

अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥
सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत् प्रकल्पितम् ।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥
पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम् ।
(६, ९–११)

'प्राणियोंकी हिंसा न करना ही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है । मद्य, मांस, मछली, मधु, आसव और तिल मिले हुए चावलोंका भक्षण धूर्तोंके द्वारा प्रचलित किया गया है । यह सब वेदोंमें नहीं कहा गया है । ब्राह्मणलोग सब यज्ञोंमें विष्णु (व्यापक परमात्मा) को ही जानते हैं ('यज्ञो वै विष्णुः' यह कहा ही गया है) । उनकी पूजा तो दूध और फूलोंसे कही गयी है । महा० अनुशा० अ० ११५-११६में उक्त रीतिसे ही अहिंसाका प्रतिपादन और मांस-भक्षणका खण्डन विस्तृतरूपसे किया गया है । अतः शास्त्र-दृष्टिसे मांसाहार मनुष्यमात्रके लिये त्याज्य है ।

प्राकृतिक विज्ञान-दृष्टि

प्राकृतिक दृष्टिसे भी मांसाहार मनुष्य-प्रकृतिके प्रतिकूल है । आप मांसाहारी व्याघ्रों, बिल्लियों और कुत्तों आदिको अपनी एक ओर रखिये और मांस न खानेवाले गायों, बैलों और घोड़ों आदिको दूसरी ओर रखकर अपनी मानवी-प्रकृतिसे मिलान कीजिये तो आपकी प्रकृति मांस न खानेवालोंसे ही मिलती है—

१—आहार ग्रहण करनेका अङ्ग दाँत है । वह मांसाहारियोंका नोच-नोचकर खानेयोग्य नुकीला होता है, व्याघ्रों, बिल्लियों और कुत्तोंके दाँत देखिये । मांस न खानेवाले घोड़े-गाय आदिके दाँत वैसे नहीं होते, प्रत्युत चौभरिवाले हैं और सामनेके दाँत चौखूँटे होते हैं । मनुष्योंके दाँत भी इन्हींके समान होते हैं । इस मिलानसे सिद्ध है कि मनुष्यका आहार मांस नहीं है ।

२—मांसाहारी व्याघ्रों, बिल्लियों और कुत्तोंके बच्चे जन्मते समय आँख मुँदे पैदा होते हैं, कई दिनोंपर उनकी आँखें खुलती हैं । परंतु मांस न खानेवाले गायों-बैलों और घोड़ोंके बच्चे आँख खुले पैदा होते हैं । अतः इनकी प्रकृति मांसाहारियोंसे भिन्न है । ऐसे ही मनुष्योंके बच्चे भी आँख खुले ही पैदा होते हैं । अतः इनकी प्रकृति मांसाहारियोंसे विरुद्ध है ।

३—मांसाहारी व्याघ्रों, बिल्लियों और कुत्तोंके शरीरोंमें पसीना नहीं निकलता, इसीसे इनकी देहोंमें दुर्गन्ध भी रहा करती है । परंतु न मांस खानेवाले गायों, बैलों और घोड़ों आदिकी देहोंसे पसीना निकलता है—वैसे ही मनुष्योंकी देहोंसे भी पसीना निकलता है । इस मिलानसे भी मांस खाना मानव-प्रकृतिके विरुद्ध है ।

४—मांसाहारी व्याघ्र आदि जीभसे उठा-उठाकर पानी पीते हैं और मांस न खानेवाले घोड़े-गाय आदि घूँटोंसे पीते हैं, वैसे मनुष्य भी घूँट-घूँटसे ही पानी पीते हैं । अतः इनकी प्रकृति मांसाहारियोंसे विरुद्ध है ।

५—मांसाहारी व्याघ्र आदिकी आँखें तेज होती हैं; क्योंकि उन्हें रातमें शिकार ढूँढ़नेकी अपेक्षा रहती है, इससे उन्हें रातमें अधिक देख पड़ता है । परंतु गायों, बैलों और घोड़ोंकी आँखें वैसी तेज नहीं होतीं; वैसी ही मनुष्योंकी आँखें भी होती हैं । अतः इनकी प्रकृति मांसाहारियोंसे विरुद्ध है ।

६—मांसाहारी स्वभावसे ही कच्चा मांस दाँतों और पंजोंसे नोच-नोचकर खाते हैं । परंतु मांस न खानेवाले गाय-बैल आदि किसी प्रकार नहीं खाते । मनुष्य हठात् यदि मांस खानेमें प्रवृत्त होते हैं तो पहले उनकी आँखें नहीं मानतीं; इससे वे उस मांसको चर्म, रोम और हड्डीसे पृथक् करते हैं । फिर जीभ नहीं स्वीकार करती, तब उस मांसको उबालते हैं और उसमें मसाला आदि भी देते हैं । फिर खा लेनेपर भी पहले उदर नहीं स्वीकार करता, इससे प्रथम खिलानेसे कै हो जाती है, फिर बार-बार अभ्यास करनेसे लोग खाने लगते हैं ।

अभ्यास करनेसे तो लोग अफीम और संखिया आदि विष भी पचाने लगते हैं।

७-मांसाहारी मनुष्य जिन मत्स्य-कच्छप आदिके मांस खाते हैं, उनके मांस उनके घृणित आहारोंसे निष्पन्न होते हैं। मनुष्योंके मांस अन्न आदिसे निष्पन्न होते हैं। अतः इनमें प्राकृतिक मेल नहीं होता। इसीसे हठात् खाकर पचानेसे प्राकृतिक प्रकोपसे भाँति-भाँतिके रोग, अधिकतर चर्मरोग होते हैं। सात्त्विक आहारवाले मनुष्य बहुत कम रोगी होते हैं। अतः मांसाहार मानव-प्रकृतिके प्रतिकूल ही है।

इस प्रकार उपर्युक्त सात प्रकारके प्राकृत विरोधोंसे मांसाहार मानवी प्रकृतिके विरुद्ध है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि मांसाहार यदि मानव-प्रकृतिके विरुद्ध है तो संसारमें आज-दिन भी मांसाहारी मनुष्य अधिक हैं, यह क्यों ? इसका उत्तर यह है कि बहुत लोगोंके इसमें प्रवृत्त होनेसे मांसाहारमें प्राकृत-औचित्य नहीं कहा जा सकता। जैसे आज दिनके गणतन्त्र राज्यमें प्रजावर्गमें एवं राज्य-कर्मचारियोंके सभी विभागोंमें यदि घूसखोरी एवं बेईमानी आदि दुर्गुण अधिक लोगोंमें आ जायँ, तो इन दुर्गुणोंका औचित्य नहीं कहा जायगा।

भगवान्‌का प्रेम सबसे महान् है

(ले०—श्रीमेरी एल० कपफर्ले)

क्या आप दुखी हैं ? भगवान्‌का प्रेम दुःखसे महान् है। क्या आप कठिनाइयोंसे घिरे हैं ? भगवान्‌का प्रेम कठिनाइयोंसे महान् है। क्या आपको कोई आर्थिक, शारीरिक अथवा भावात्मक अभाव है ? भगवान्‌का प्रेम सब प्रकारके अभावोंसे महान् है।

'भगवान्‌का प्रेम सबसे महान् है'—इन शब्दोंकी बार-बार अपने मनमें आवृत्ति कीजिये। इससे आपको इन शब्दोंके वास्तविक महत्त्वका अनुभव होगा। जब कभी कोई निराशा या प्रतिकूलता झाँके तो स्थिरताके साथ धीरे-धीरे अथवा जोर-जोरसे इन शब्दोंको दोहराइये—'भगवान्‌का प्रेम सबसे महान् है।'

भगवान्‌के प्रेमके मार्गमें कोई भी वस्तु अथवा परिस्थिति बाधा उपस्थित नहीं कर सकती। भगवान्‌का प्रेम मानसिक एवं शारीरिक स्वस्थता प्रदान करता है; भगवान्‌का प्रेम समृद्धि देता है और भगवान्‌का प्रेम जीवनमें संतुलन—समस्वरता लाता है। सम्पूर्ण विश्वकी समस्त कठिनाइयोंसे भगवान्‌का प्रेम महान् है। जीवनमें आपके सम्मुख उपस्थित होनेवाली किसी भी समस्यासे भगवान्‌का प्रेम महान् है।

आपकी जगत्‌में उत्पत्ति हुई है, इसमें भगवान्‌का प्रेम हेतु है तथा निरन्तर आपका भरण-पोषण हो रहा है, यह भी भगवान्‌के प्रेमका परिचायक है।

आप कौन हैं ? आपने अबतकके जीवनमें क्या-क्या किया है ? अब आप अपनेको कितना अयोग्य मानते हैं ? इन प्रश्नोंसे भगवान्‌के प्रेममें कोई अन्तर नहीं आता; भगवान्‌का प्रेम इन सबसे महान् है।

भगवान्‌का प्रेम आपके जीवनके सत्यको देखता है; भगवान्‌का प्रेम आपके जीवनके शिवको देखता है, भगवान्‌का प्रेम आपके जीवनके सुन्दरको देखता है। आप भगवान्‌की आध्यात्मिक संतान हैं, आप भगवान्‌की अभिव्यक्ति हैं—भगवान्‌का प्रेम आपको इसी रूपमें देखता है।

जिस क्षण आप भगवान्‌के प्रेमको अपनानेके लिये उद्यत हो जायँगे, उसी क्षण भगवान्‌के प्रेमको आपके जीवन एवं क्रियाओंमें सक्रिय होनेका अवसर प्राप्त हो जायगा।

भगवान्‌के प्रेमके आसरे जीयें। भगवान्‌के प्रेमके विषयमें अपने चिन्तनको लगायें। भगवान्‌के प्रेमके आश्रित रहें। यह आपके देह-मन्दिरको स्वस्थ कर देगा। यह आपके जीवनको समृद्ध कर देगा। यह आपकी प्रत्येक कामनाकी पूर्ति कर देगा। यह आपके हृदयके प्रत्येक स्वप्नको सफल कर देगा। किसी भी निराशासे आपमें सदा विद्यमान भगवान्‌का प्रेम महान् है। यह भयंकर-से-भयंकर बाधाको परास्त कर देगा। किसी भी बड़ी-से-बड़ी कठिनाईसे यह आपको उबार लेगा। यह आपके आध्यात्मिक स्वरूपको आपके सामने

व्यक्त कर देगा। यह सम्पूर्ण जगत्में आपको भगवान्की अनुभूति करायेगा।

भगवान्के ऐसे महान् प्रेममें ही आजका पूरा समय व्यतीत करें।

भगवान् आपको प्यार कर सकें, इसके लिये उन्हें अवसर दें। भगवान् आपके माध्यमद्वारा अन्य प्राणियोंके प्रति अपने प्रेमको व्यक्त कर सकें, इसके लिये उन्हें अवसर दें। भगवान्का प्रेम आपको आत्मसात् कर ले, इसके लिये आप अपनेको तैयार कर लें। भगवान्का प्रेम किसी भी प्राणी अथवा किसी भी वस्तुसे महान् है। भगवान्का प्रेम इतना महान् है कि वह प्रत्येक काल एवं प्रत्येक स्थानमें परिव्याप्त है। यह जीवको उसके अपराधोंके लिये दोषी करार देकर दण्डविधान नहीं करता। भगवान् परम दयालु हैं, दयाके असीम सागर हैं तथा प्राणियोंपर निरन्तर दयाकी वर्षा करते रहते हैं। भगवान्का प्रेम प्राणीको समृद्धिमान् बनानेके लिये, उसे शारीरिक और मानसिक स्वस्थता प्रदान करनेके लिये, उसमें नयी स्फूर्ति उत्पन्न करनेके लिये, आवश्यकताके समय उसकी सहायता करनेके लिये तथा निरन्तर प्रचुरतासे देते रहनेके लिये सदा प्रस्तुत है।

आपको अपनेसे सराबोर करनेका भगवान्के प्रेमको अवसर दीजिये। भगवान्के प्रेमको आपमेंसे होकर दूसरोंके प्रति प्रवाहित होने दीजिये। कोई बाहरी स्थिति आपको चुनौती दे तो कहिये—'भगवान्का प्रेम इससे महान् है।' प्रार्थनाद्वारा भगवत्प्रेमकी संनिधिकी अनुभूति कीजिये तथा अपनेको भगवत्प्रेम प्राप्त होनेके योग्य मानिये। भगवत्प्रेमकी अपार शक्ति, अपार सामर्थ्य एवं अपार सीमाका विचार कीजिये। भगवत्प्रेमके आश्रित रहिये और उसे आपको अपनी ओर खींचनेका अवसर दीजिये जबतक आप उस प्रेममें ही समा न जायँ।

भगवान् आपको इस समय भी प्यार करते हैं। भगवान्का प्रेम इतना महान् है कि जगत्की कोई भी शक्ति भगवान्को इसी क्षण आपपर अपनी सम्पूर्ण कृपाको उँड़ेल देनेसे रोक नहीं सकती। भगवान् आपको सदा प्यार करते हैं।

सचमुच भगवान्का प्रेम सबसे महान् है।

भगवान् मेरे सहायक हैं, मुझे कोई भय नहीं

मेरे अन्तरात्माके रूपमें स्थित भगवान् मुझे प्राप्त होनेवाली किसी भी परिस्थितिसे महान् हैं। मेरे लिये कोई भी स्थिति असहनीय नहीं है। भगवान्के अचिन्त्य ज्ञानके द्वारा कठिन-से-कठिन परिस्थितिका भी सरलतासे समाधान हो जाता है। अतएव मैं अपने जीवनकी समस्याओंको भगवान्की सर्वसंरक्षण-शक्तिको सौंपता हूँ। भगवान्की समाधान-विधायिनी शक्तिके सामने कुछ भी असम्भव तथा नैराश्यमय नहीं है। इसलिये किसी भी भयंकर स्थितिके झाँकनेपर मैं भयभीत नहीं होता।

मुझे प्राप्त होनेवाली प्रत्येक स्थितिका सामना अपने आत्मारूपमें स्थित तथा सम्पूर्ण जगत्में परिव्याप्त परमात्माकी स्थिति-संधायिनी शक्तिपर पूर्ण विश्वास करते हुए करता हूँ। जब मैं अपने मनको भगवान्की संरक्षणात्मक सर्वव्यापकतापर केन्द्रित रखता हूँ तो मैं किसी भी प्रकारकी हानिका भागी नहीं होता। मैं जीवनकी प्रत्येक स्थितिका प्रसन्नता एवं साहसके साथ सामना करता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे अन्तरमें स्थित भगवान्का विवेक मेरा मार्गदर्शन करता है तथा उनकी शक्ति मुझे शक्तिमान् बनाती है। अतएव मुझे कोई भय नहीं। मैं अपने स्वजनोंको भी परमात्माकी स्थिति-संधायिनी शक्तिको सौंपता हूँ। मुझे विश्वास है कि उन्हें किसी प्रकारकी हानि नहीं हो सकती। परमात्मा उनमें भी विद्यमान है तथा प्रत्येक अवस्थामें उनका निरापद मार्गदर्शन करता है।

भगवान् मेरे सहायक हैं, मुझे कोई भय नहीं।

धर्म, भक्ति और साम्प्रदायिकता

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

जिस देशके विषयमें मनुने कहा है कि पृथ्वीके सब मानव यहाँके निवासियोंसे अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें, वहाँ पूर्ण साम्प्रदायिक स्वतन्त्रताके कारण सम्प्रदाय तो सदासे असंख्य रहे हैं, परंतु 'साम्प्रदायिकता' नहीं रही है। किसी एक विशेष व्यक्ति, ग्रन्थ या परम्पराको माननेवालोंका एक 'सम्प्रदाय' होता है। उनमें 'साम्प्रदायिकता' तब आती है, जब एक सम्प्रदायके लोग दूसरे सम्प्रदायवालोंको बलात् या लोभात् अपने सम्प्रदायमें सम्मिलित करना अपना 'धर्म' समझते हैं। इस प्रवृत्तिको भारतीय आचार्योंने कभी प्रोत्साहित नहीं किया; बल्कि सदैव यही कहा गया कि जिसकी श्रद्धा न हो, उसे उपदेश तक मत करो। श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनको उपदेश करनेके बाद अन्तमें भगवान् हिदायत करते हैं—

जो तपस्वी न हो और भक्त न हो तथा जिसकी सुननेकी इच्छा न हो और जो (मेरी) भगवान्‌की निन्दा करता हो, उसे इसका कथन कभी मत करना ॥ ६८ ॥ जो इस परम गोपनीय ज्ञानका मेरे भक्तोंमें कथन करेगा, वह मुझमें परा भक्ति करके मुझे ही प्राप्त होगा—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ६९ ॥

इस प्रकार इस महान् देशमें सम्प्रदाय-परिवर्तन या 'शुद्धि' की जड़ ही काट दी गयी थी और आज जो इस प्रकारकी प्रवृत्ति कहीं-कहीं दिखायी देती है, वह या तो विदेशोंसे आयात हुई है या फिर विदेशोंसे आयी हुई प्रवृत्तिका प्रत्युत्तर (सो भी सौम्य) मात्र है।

परंतु आज तो धर्म और साम्प्रदायिकताको एक ही चीज समझ लिया गया है और सर्वत्र भारतवर्षको एक 'धर्म-निरपेक्ष' राज्य कहा जा रहा है; जब कि भारतके राष्ट्रपति जिस स्थानपर बैठते हैं, उस सिंहासनके ऊपर लिखा है—'धर्मचक्र-प्रवर्तनाय' अर्थात् धर्मचक्रके प्रवर्तनके लिये, धर्म-संस्थापनके लिये। भारतके राष्ट्रपति धर्म-संस्थापनके लिये हैं; भारतीय राज्य धर्म-संस्थापनके लिये है।

भारतमें धर्म सदासे 'सम्प्रदाय-निरपेक्ष' या असाम्प्रदायिक रहा है। भगवान्‌ने जब धर्म-संस्थापनको अपने अवतारका उद्देश्य बताया, तब उनका तात्पर्य किसी विशेष सम्प्रदाय—वैष्णव मत, शैव मत या शाक्त मतके संस्थापनसे नहीं, बल्कि सार्वभौम और सनातन मानव-धर्मके संस्थापनसे था। मनुके बताये हुए धर्मके दस लक्षणों (धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, स्वच्छता, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध) मेंसे कौन-सा लक्षण ऐसा है, जिसे संसारका कोई भी मत, मजहब या सम्प्रदाय 'धर्म' का लक्षण न मानेगा? जिसे सब मानें, वही धर्म है; जीवनका 'धारण' करनेके कारण ही उसे 'धर्म' कहा गया है। जिससे अभ्युदय और कल्याण हो, वह धर्म है। कोई भी 'कल्याणकारी राज्य' 'धर्म'-निरपेक्ष कैसे हो सकता है? नाम आप चाहे 'रामराज्य' रखें, चाहे 'सर्वोदय-समाज' और चाहे 'समाजवादी समाज', एक आदर्श समाज-रचनाका आधार 'धर्म' ही हो सकता है—'मानव-धर्म', जिसका प्रचार बुद्ध और अशोकने किया था। ईश्वर, आत्मा और वेदोंको न माननेवाले बौद्ध भी 'धर्म' को मानते हैं, यद्यपि साम्प्रदायिकता उनमें नहीं है। यह भारतीय संस्कृतिकी देन है। बौद्धोंकी असाम्प्रदायिकताका ही प्रभाव है कि आज भी चीन और जापानमें वहाँके प्राचीन सम्प्रदायोंके साथ बौद्ध मत भी शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्वका जीवन बिता रहा है और अधिकांश चीनी और जापानी बौद्ध अपने देशके प्राचीन मतमें भी उतनी ही श्रद्धा रखते हैं, जितनी बौद्ध मतमें।

बौद्ध मतके उदाहरणसे यह स्पष्ट है कि कोई नास्तिक भी 'धर्मात्मा' हो सकता है, यदि वह सत्य, अहिंसा आदि धर्मोंका आचरण करता है। पापात्माको हम धर्मात्मा नहीं कह सकते परंतु पापी मनुष्य 'भक्त' हो सकता है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि 'यदि अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरी भक्ति करता है तो उसे सज्जन ही मानना चाहिये क्योंकि वह ठीक रास्तेपर तो लग गया है। वह शीघ्र ही 'धर्मात्मा' हो जाता है। (अ० ९, श्लोक ३०-३१)।

भक्ति वही है, जो मनुष्यको 'धर्मात्मा' बनाये तथा उसमें साम्प्रदायिक बलात्कार या व्यभिचार न आने दे। भक्त तो यह मानता है कि भगवान्‌के अलावा अन्य किसीकी उपासना जो करता है, वह भी अविधिपूर्वक भगवान्‌की ही उपासना करता है। इसीलिये भगवान्‌का आदेश है कि अज्ञानियोंकी श्रद्धा विचलित न करके सबको अपनी-अपनी स्वाभाविक श्रद्धाके अनुसार ही चलने देना चाहिये। यही साम्प्रदायिक स्वतन्त्रताका मूल है। सम्प्रदाय-भेदके मूलमें श्रद्धा-भेद है, जो जन्मजात होनेके कारण दूर नहीं किया जा सकता। इस

सम्प्रदाय-भेदको मिटानेका प्रयास करना एक व्यर्थ प्रयास हैं। हाँ, साम्प्रदायिकताको न पनपने देना राज्यका कर्तव्य है। 'सम्प्रदाय-निरपेक्ष' धर्मका प्रचार राज्यका कर्तव्य है, प्रथम कर्तव्य है। दण्ड-व्यवस्था तो धर्म-संस्थापनके लिये साधनमात्र है, साध्य धर्म-संस्थापन है। इसके लिये दण्ड-व्यवस्थाके ही समान महत्त्वका साधन शिक्षा और धर्म-प्रचार है। हमारे राष्ट्र-नेताओंने सम्राट् अशोकको अपना आदर्श माना प्रतीत होता है। धर्म-प्रचारके विषयमें अशोककी परम्पराको आगे बढ़ाते हुए उसके धर्म-विभागके समान एक 'धर्म-मन्त्रालय'के गठनका भी विचार किया जा सकता है। जनता और राजकर्मचारियोंमें फैले हुए भ्रष्टाचारको दूर करके नैतिक पुनर्जागरणके लिये राज्यद्वारा इस कदमका उठाया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

जिस प्रकार भगवान्ने अपने विषयमें कहा है कि 'मैं सबमें नहीं हूँ बल्कि सब मुझमें हैं' उसी प्रकार कहा जा सकता है कि 'भक्ति सब धर्मोंमें नहीं है, परंतु भक्तिमें सब धर्म हैं।' इसीलिये भगवान्ने कहा है कि 'सब धर्मोंको छोड़कर तुम मेरी शरणमें आ जाओ; मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त करूँगा; तुम कोई शोक-फिक्र मत करो।'

साम्प्रदायिक मतभेदोंके लिये अवकाश 'अपरा भक्ति' में है; परा भक्तिके स्तरपर पहुँचकर सम्प्रदाय नीचे रह जाते हैं तथा धर्म और भक्ति एक ही परम तत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं। स्वभावनियत कर्म या स्वकर्मको स्वधर्म बताते हुए भगवान्ने कहा है कि "अनासक्त बुद्धिसे स्वधर्मका आचरण करनेवाले और सबमें सम-दृष्टि रखनेवाले प्रसन्नात्माको मेरी 'परा भक्ति' प्राप्त होती है जिससे वह मुझे प्राप्त होता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी सम्प्रदायको माननेवाला या न माननेवाला तथा भक्तिमार्गपर चलनेवाला भी और न चलनेवाला भी 'धर्मात्मा' हो सकता है तथा साम्प्रदायिक बलात्कार या व्यभिचार अधर्म है। भय दिखाकर किसीको अपने सम्प्रदायमें सम्मिलित करना 'साम्प्रदायिक बलात्कार' है तथा फुसलाकर सम्मिलित करना 'साम्प्रदायिक व्यभिचार' है। ये दोनों ही साम्प्रदायिकताके दो भेद या रूप हैं, जिनसे भारतको अपार क्षति हुई है तथा हो रही है। धर्म और भक्तिके प्रचारद्वारा—विशेषकर धर्मके प्रचारद्वारा—हमें साम्प्रदायिकताका उन्मूलन करना ही चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता एक भक्तिप्रधान धर्म-ग्रन्थ होते हुए भी उसमें भक्तिसे भी अधिक 'धर्म' पर बल दिया गया है। प्रारम्भमें धर्म और भक्तिका कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है; परंतु अन्तमें जाकर 'पराभक्ति' और 'शाश्वत धर्म' एक ही वस्तुके दो नाममात्र रह जाते हैं। अतएव आस्तिक और नास्तिक सभी मानव धर्म-प्रचारमें एकमत हो सकते हैं और होते हैं। सबको इस विषयमें एकमत होना ही चाहिये। जहाँ धर्म है वहीं विजय, अभ्युदय और कल्याण है; जहाँ धर्म है वहीं आरोग्य, सौभाग्य और परम सुख है; जहाँ धर्म है वहाँ स्वयं भगवान् हैं। ॐ तत्सत्

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।

श्रीकृष्णका श्रीमती राधाको प्रेमसंदेश

प्राणेश्वरि ! जबसे मैं आया हूँ मथुरा, कर तेरा त्याग।
तबसे तुझे भूलकर, पलभर भी न पा सका सुख निर्भाग॥
मधुर एक, बस, तेरी ही स्मृति है, मेरी जीवन-आधार।
प्रतिपल वह जीवनमें जीवन भरती रहती है अनिवार॥
स्वप्न-जागरण में जो कुछ भी करते हैं सब इन्द्रिय-मन।
सबमें, बस, तेरा मीठा संबन्ध बना रहता प्रति छन॥
भोजन-शयन सभी में तेरी संनिधि देती परमानंद।
तेरे बिना, सदा भूला रहता मैं सहज स्वरूपानंद॥
तू ही एकमात्र सुख मेरा, तू ही है प्राणोंकी प्राण।
हृदयेश्वरि ! तेरी विस्मृति लवभर न सहन कर सकते प्राण॥

भक्ति और कैवल्य-प्राप्ति

(लेखक—श्री ... ...)

मनुष्य बुद्धिजन्य विभिन्न प्रतिक्रियात्मक भावनाओंका समूह है। यह प्रतिक्रिया ही इच्छा अथवा वासना है; क्योंकि यह सदैव बाह्यपर ही आश्रित रहती है और 'आनन्द मुझसे बाह्य है' अपरोक्षरूपमें अवचेतन मनमें जमे इस अज्ञानपूर्ण प्रतिक्रियात्मक विश्वासपर ही आधारित रहती है। मनुष्यमें प्रतिक्रियात्मक व्यवहारको निकाल देनेपर जो शेष रह जाता है, वह उसका स्वरूप चिदात्मानन्द ही है। यह प्रतिक्रिया ब्रह्माण्डमें स्थूलत्व, काल तथा देशकी विभिन्न ज्यामितिसे परिमित आकारपूर्ण, जो 'बाह्य' सापेक्षिक 'दृश्य'रूपमें प्रतीत होता है, उसीके कारण उत्पन्न होती है। 'आदि' ब्रह्म सच्चिदानन्दमें प्रतिक्रियाकी उत्पत्ति ही मायाकी उत्पत्ति थी।

मनुष्यमें इस प्रतिक्रियात्मक व्यवहारकी पूर्ण शान्ति ही सच्चिदानन्द-प्राप्ति है। किंतु यह तभी सम्भव है जब कि मनुष्यमें बुद्धि और भावनाओंका पूर्ण समन्वय हो जाय।

बुद्धि और भावनाओंका पूर्ण समन्वय प्राप्त करना—यह साधना है; विवेकजनित वैराग्य इसमें प्रधान सहायक है और इस सम्पूर्ण साधना-क्रियाका नाम 'भक्ति' है। भक्ति स्वयंमें परिपूर्ण योग है, और कैवल्य-प्राप्तिका एकमेव उपाय है। भक्तिका अर्थ 'पूर्ण सामीप्य' है। 'पूर्ण सामीप्य'से सारांश 'पूर्ण अद्वैत'से है। यह सामीप्य किसी बाह्य-कल्पनाजनित देवता अथवा सिद्धान्तका न होकर, अन्तरकी क्रान्ति है। यद्यपि यह क्रान्ति एकाएक ही होती है, फिर भी सापेक्षिक दृष्टिमें यह विभिन्न स्थितियोंमें होती हुई प्रतीत होती है।

भक्तिका मूल रहस्य 'समर्पण' (Surrender) है। 'समर्पण'का आधार 'वियोग' है।

विभिन्न वासनाओंद्वारा पीड़ित मनुष्यमें शुद्ध बुद्धि अथवा विवेक-पक्ष गौण रहता है। वह प्रतिक्रियात्मक भावनाओं (Emotional responses) का समुदायमात्र रहता है। प्रथम स्थितिमें मनुष्यका भावना-पक्ष बुद्धि-देव (Power of discrimination) का सांनिध्य प्राप्त करनेको आतुर हो उठता है। इसका अन्त भावनाओंके बुद्धि-देवके समक्ष समर्पणमें होता है। किंतु बुद्धि-देव स्वयं शक्तिहीन है, उसका प्रकाश-केन्द्र वह पूर्ण सत्-चिदानन्दस्वरूप आत्मदेव ही है। शीघ्र ही वह बुद्धि-देवता, उस परमात्मदेवकी कृपाके कारण अपनी अपूर्णतासे सजग हो उस परमात्मदेवके 'पूर्ण सामीप्य'को प्राप्त करनेके लिये आतुर हो उठता है। अपने स्वतन्त्र अस्तित्वकी निरर्थकता उसमें 'महान् समर्पण'को जन्म देती है, और अन्तमें वह 'महान् समर्पण' (supreme surrender) कर चिदात्मामें समा जाता है। जीव समाधान (annihilation of doubts) को प्राप्तकर समाधिस्थ हो जाता है। उस निर्विकल्पक समाधिमें अबाधित सजगता (Unconditioned Awareness) के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहता।

इस महान् जागरण (Great Awakening) के पश्चात् वह परम भक्त जीवन्मुक्त महायोगी शेष प्रारब्धके हेतु पुनः निद्रा (Centralization of unconditioned awareness) में आकर पूर्व ब्रह्माण्डकी सृष्टि करता है। इस प्रकार उस जीवन्मुक्त परम भक्तमें भावनाएँ बुद्धिदेवके दासत्वमें और बुद्धिदेव उसके 'स्वयं'के दासत्वमें रहता है।

इस प्रकार पूर्ण समत्व-स्थितिको प्राप्तकर वह महायोगी इस स्वप्न-ब्रह्माण्ड (Dream universe) को प्रारब्धानुसार भोगता हुआ अन्तमें महानिर्वाणको प्राप्त होता है।

भक्ति और कैवल्यमें कोई अन्तर नहीं है। साध्य, साधन और साधक अभिन्न हैं। बुद्धिके समर्पणके पश्चात् विभिन्न समाधि-स्थितियोंके पश्चात् सहज स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह सहज स्थिति बाह्य और आन्तरिक मौनका ही दूसरा नाम है। यह विश्राम-स्थिति है और यही भक्ति है।

मेहरवान मालिकसे

गुनाहों से भरी है यह नापाक ज़िंदगी मेरी। परवरदिगार! कभी न गई गुनाहों पर नज़र तेरी॥
तूने हमेशः मुझ गुनहगार पर नज़रे मेहर की। प्यार से पास बिठलाया कभी भी दुत्कार न दी॥
कहा—बच्चे! तुझ बेसमझ के सारे गुनाह माफ हैं। तेरे लिये मेरी रहमका रास्ता सदा साफ है॥
क्या शुक्रिया अदा करूँ मालिक! मैं खादिम तेरा। कदमों में पड़ा रख औ कहता रह 'तू गुलाम मेरा'॥

मा फलेषु कदाचन

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'आप यहाँ !' नगरका प्रतिष्ठित डाक्टर—वह डाक्टर जिसे स्नान-भोजनको ठिकानेसे समय नहीं मिलता, इस प्रकार अपनी जमी-जमाई चिकित्साकी दूकान छोड़कर सुदूर देहातमें एक नन्हा-सा तंबू डालकर आ टिकेगा, इसकी कोई कैसे सम्भावना कर सकता है।

'मैं चिकित्सक हूँ—अतः इस समय मुझे यहाँ होना ही चाहिये था।' डाक्टर अवधेशजी चटपट उठ खड़े हुए। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर आगन्तुकको नमस्कार किया।

केवल तीन रावटी पड़ी हैं। एकमें कम्पाउंडर तथा एक और सेवक है। एकमें डाक्टर साहबका अस्पताल है और उसीके पिछले भागमें उनके रहनेकी भी व्यवस्था है। तीसरा तंबू भोजनालयका काम देता है। उसीका एक भाग सामान रखनेके भी काम आता है।

'आप सरकारी चिकित्सक तो हैं नहीं।' आगन्तुक एक टीनकी कुर्सीपर बैठते हुए बोले—'नगरमें भी आप सेवा ही कर रहे थे। वहाँके रोगियोंको भी तो चिकित्सक चाहिये।' दो-तीन टीनकी कुर्सियाँ और एक छोटी मेज—जितने कम सामानमें काम चल सके, बस, उतना सामान डाक्टरके पास था। वैसे एक चिकित्सक होनेके कारण चिकित्सालयका ही सामान बहुत अधिक होना स्वाभाविक था।

'नगरके रोगियोंकी सेवा करनेवाले पर्याप्त चिकित्सक वहाँ हैं।' डाक्टरने शीघ्रतापूर्वक अपना इंजेक्शनका सामान ठीक करते हुए कहा। उनके पास रोगी आ रहे थे और उन्हें तुरंत इंजेक्शन देना था—'सरकारी चिकित्सक पर्याप्त नहीं हो रहे हैं, यह आप देख ही रहे हैं। यह सरकारी चिकित्सकका ही कर्तव्य नहीं है। रोग जहाँ अदम्य बनता है, किसी भी चिकित्सकका कर्तव्य वहाँ उसे पुकारता है।'

'तब आप मुझे भी अपना सहकारी बना लें।' आगन्तुकने किंचित् हँसते हुए कहा—'मैं भी तो चिकित्सक ही हूँ।'

'सच पूछिये वैद्यजी! तो मैं स्वयं आपसे यह प्रार्थना करना चाहता था; किंतु हिचक रहा था।' डाक्टर अवधेश एक क्षण स्थिरदृष्टिसे वैद्यजीकी ओर देखते खड़े रहे—'हम अँधेरेमें ढेला फेंक रहे हैं। रोग नया है और उसकी कोई परीक्षित ओषधि अभी किसीके पास है नहीं; किंतु रोग संक्रामक है और अत्यन्त उग्र भी। किसी मित्रको ऐसे स्थानपर रहनेको कहना.... वैसे सम्भव है कि आयुर्वेदकी सहायता कुछ कर सके।'

'रोग तो हमारे लिये भी नया है; किंतु आयुर्वेदकी पद्धतिमें कोई रोग नया नहीं होता।' वैद्यजी गम्भीर हो गये—'और रोगके संक्रामक तथा उग्र होनेका भय तो जैसा मेरे लिये है, वैसा ही आपके लिये भी है।'

एक ही शिविरमें—उसी दिन दो अच्छे चिकित्सक एक साथ कार्य करने लगे। यद्यपि दोनोंकी पद्धतियोंमें कोई ऐक्य नहीं था, किंतु चिकित्सकमात्र—भले वे किसी पद्धतिके हों—सब एक स्थानपर एक हैं, सबका लक्ष्य रोगको दूर करके रोगीके कष्टको घटाते हुए मिटा देना है।

× × ×

भारतमें पहली बार प्लेग आया था। कोई ओषधि तबतक आविष्कृत नहीं हुई थी। अनेक घर सूने हो गये। गाँव-के-गाँव उजड़ गये। ज्वर, गिल्टी और मृत्यु—जैसे मृत्युने अपना भयानक पंजा चारों ओर

फैला रक्खा था और प्राणियोंको शीघ्रतापूर्वक समेटे ले रहा था—ठीक इस प्रकार जैसे क्षुधार्त बंदर दोनों हाथों बिखरे चने उठा-उठाकर मुखमें भरता है।

'अमुकको ज्वर आ गया है।' समाचार अकेला नहीं आता था—'उसके लड़केको गिल्टी निकल आयी है। उसके भाईकी दशा बिगड़ रही है। पड़ोसके मकानमें अमुक मर गया। उसका शव उठानेवाला कोई नहीं है।'

न डाक्टरको अवकाश था, न वैद्यजीको। किसी-को दवा दी, किसीको इंजेक्शन। किसीको पुल्टिस बाँधी, किसीको चूर्ण फँकाया। न स्नानका ठीक समय, न भोजनका।

बात यहींतक नहीं थी। चिकित्साके अतिरिक्त मृतकोंको गङ्गा पहुँचानेका भी प्रश्न था और नित्य नहीं तो, दूसरे-तीसरे ऐसा अवसर आता ही था कि वैद्यजी और डाक्टर साहब, दोनों ही शवको कन्धा लगाये गङ्गातट चले जा रहे हैं। वैसे यह कार्य उनके कम्पाउंडर, रसोइया तथा नौकरको अधिक करना पड़ता था और जब वे अपना कार्य छोड़कर कोई मृतक लेकर चल देते तो वैद्यजी चूल्हा फूँकते दीख पड़ते और डाक्टर साहब कम्पाउंडरका स्थान भी ले लेते।

'आज चपरासीको ज्वर आ गया है।' यह होगा, पहलेसे जानी-समझी बात होनेपर भी जब हुई—बहुत भयानक लगी। वैद्यजीने डाक्टर साहबसे कहा—'कम्पाउंडर, रसोइया, आप और मैं……' आगे बोला नहीं गया उनसे।

'हम सभी खतरेमें हैं।' डाक्टरने बिना हिचके कहा—'मैंने सबसे यह बात पहले ही बता दी है और रसोइया या कम्पाउंडर अपने घर जाना चाहें तो मैं उन्हें प्रसन्नतासे छुट्टी दे दूँगा। मेरी प्रार्थना मानें तो आप भी……………।'

'मैं दूसरी बात कह रहा था।' वैद्यजी बीचमें बोल उठे—'न कम्पाउंडर जायगा इस प्रकार और न रसोइया। इनके बिना आपका काम भी नहीं चल सकता। लेकिन मैं ठहरा वैद्य, मुझे किसी कम्पाउंडर, चपरासी, रसोइयेकी आवश्यकता नहीं होती। मैं दवा भी घोट लेता हूँ, रोगी भी देख लेता हूँ और अपने लिये दो टिक्कर भी ठोंक लेता हूँ।'

'तो यह कहिये कि आपकी नीयत अच्छी नहीं है।' डाक्टर खुलकर हँस पड़े—'आप यहाँसे हमें भगा देना चाहते हैं। यह क्यों भूलते हैं आप कि यहाँ आप हमारे अतिथि होकर आये और अब भी उसी स्थितिमें हैं।'

'तो आप इस ब्राह्मण अतिथिको अपना यह आवास दान कर दीजिये।' वैद्यजी भी हँसे—'अपने संगी-सेवक लेकर नगरका मार्ग देखिये।'

'आपने ठीक यजमान नहीं चुना' डाक्टरने उसी विनोदके स्वरमें उत्तर दिया—'मुझमें इतनी श्रद्धा नहीं है।'

'तब मुझे यमराजको यजमान बनाना पड़ेगा।' वैद्यजी गम्भीर हो गये; किंतु किसीके भी नगर लौटने-की चर्चा यहीं समाप्त हो गयी।

× × ×

'वैद्यजी, मैं निराश हो चला हूँ।' अन्ततः एक रात—आधीरातके बीत जानेपर जब डाक्टर अपने बिस्तरेपर लेटे, उन्होंने समीपके बिस्तरपर लेटे वैद्यजीसे कहा—'हम न रोगियोंको बचा पाते हैं और न उनका कष्ट ही कुछ कम कर पाते हैं। उलटे हमने अपने आश्रितोंके प्राण भी संशयमें डाल रक्खे हैं।'

'वे जाना चाहें—आग्रह करनेपर भी चले जायँ तो उन्हें सबेरे ही भेज दीजिये।' वैद्यजी डाक्टर साहबके शिविरमें, उनकी ही रावटीमें रहने लगे थे, यह तो कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है। वे कह रहे

थे—'मैं आपकी रसोई भी बना दूँगा और पूरा नहीं तो भी, कुछ काम कम्पाउंडरका भी कर दूँगा आपके।'

'लेकिन इससे लाभ ?' डाक्टरका स्वर खिन्न था।

'लाभ ?' वैद्यजी झटकेसे उठ बैठे अपने बिस्तरेपर—

'आप इसमें कुछ लाभ नहीं देखते ? नगर लौट जानेकी इच्छा हो रही है क्या ?'

'मैं अकेला कहाँ जा रहा हूँ।' डाक्टर और खिन्न हो गये थे—'आपको साथ लेकर जाना चाहता हूँ।'

'देखो अवधेश !' इस बार वैद्यजी मित्रताके स्वरपर आ गये—'मैं प्रारम्भसे आग्रह कर रहा हूँ कि तुम नगर चले जाओ। अपने सेवकोंको और इन शिविरोंको भी ले जाओ। मुझे इनमेंसे किसीकी आवश्यकता नहीं। मैं सबेरे ही जमीदारकी खाली छावनीके बैठकेमें डेरा डालूँगा।'

'करेंगे क्या आप ?' डाक्टर भी उठकर बैठ गये।

'दवा घोटूँगा। रोगी देखूँगा। उन्हें दवा दूँगा। आश्वासन दूँगा।' वैद्यजीके स्वरमें विनोदका लेश नहीं था—'और किसी मृतकको उठानेवाला कोई न हुआ तो इतनी शक्ति इस शरीरमें भगवान्ने कृपा करके दी है कि अकेले उसे कन्धेपर उठाकर गङ्गाजीमें विसर्जित कर आऊँ।'

'इससे क्या लाभ ?' डाक्टरने फिर पूछा—'मेरी ओषधियोंके समान आपकी ओषधियाँ भी प्रभावहीन सिद्ध हो रही हैं, यह तो आप देख ही रहे हैं।'

'ओषधियाँ चुननेमें हम प्रमाद नहीं करते' वैद्यजी अत्यन्त गम्भीर हो गये थे—'हमारी जितनी योग्यता है, जितना ज्ञान है, उसका कोई भाग हमने छिपाया नहीं है और यही हम कर सकते हैं। ओषधि लाभ करें ही, यह तो न मेरे वसकी बात है, न आपके। इसमें उद्विग्न होनेकी क्या बात ?'

'निष्फल उद्योग और वह भी खतरा उठाकर' डाक्टरने वैद्यजीको समझानेके स्वरमें कहा।

'उद्योग कर्तव्य है, इसलिये किया जाता है।' वैद्यजी इस बार तनिक जोशमें आ गये—'आपकी चिकित्सा-पद्धतिकी बात आप जानें; किंतु आयुर्वेद तो आस्तिक शास्त्र है। प्रारब्ध तथा ईश्वरीय विधानमें आयुर्वेदको पूरा विश्वास है। हम विश्वास करते हैं कि जिसे जितना कष्ट प्रारब्धानुसार मिलना है—मिलकर रहेगा। निश्चित मृत्यु कोई टाल नहीं सकता।'

'तब भी आप चिकित्सा करते हैं' डाक्टरने व्यंग किया।

'सो तो करता हूँ और यहाँकी चिकित्सा छोड़नेको प्रस्तुत नहीं।' वैद्यजीका स्वर स्थिर-दृढ़ था—'परिणाम अपने वशमें नहीं है, अतः उसका प्रभाव अपने उद्योगपर क्यों पड़ने दिया जाय।'

'इस उद्योगका प्रयोजन ?'

'कर्तव्य-पालन' वैद्यजी कह रहे थे—'रोगीको आश्वासन मिलता है। हममें दया, मैत्री, करुणा, सेवा-भावका संचार होता है। प्रमादको प्रश्रय नहीं मिलता। सेवाका सात्त्विक आनन्द, रोगीको आश्वासन एवं कर्तव्य-पालनका पुण्यमय आत्मप्रसाद—इससे महान् और कोई पुरस्कार आपको सूझता है।'

'आप मेरे गुरु !' डाक्टर साहबने उठकर भाव-विभोर होकर वैद्यजीके चरण पकड़ लिये।

'स्वस्तिरस्तु' वैद्यजी हँसे—'ब्राह्मणकी चरण-वन्दना करना आपको आया तो सही।'

'चिकित्सकका ठीक कर्तव्य सुझाया आपने।' डाक्टर परिहास-ग्रहण करनेकी मनोभूमिमें इस समय थे नहीं।

'चिकित्सकका ही नहीं—मनुष्यमात्रका ब्राह्मणको छोड़कर मानव-कर्तव्यका निर्देष्टा कोई है भी तो नहीं।' वैद्यजी इस चर्चाको समाप्त कर देना चाहते थे—'किसी भी क्रियाका फल कर्ताके वशमें नहीं है। वह है भाग्यविधाताके हाथमें तब फलमें आग्रह करके अपने कर्तव्यको, जिसमें हमारी स्वतन्त्रता है, कुण्ठित क्यों होने दिया जाय।'

नकलसे असल

(लेखक—पं० श्रीमुरलीधरजी व्यास 'विशारद' एवं श्रीमोहनलालजी पुरोहित 'साहित्यरत्न')

मानवी बुद्धिजनित व्यवस्था, भगवत्प्रेरणाप्रसूत व्यवस्था-से कच्ची, छिन्न-भिन्न होनेवाली और अस्थायी होती है। अप्रत्याशित और अचिन्तनीय घटनाओंने सूर्यालोकके सदृश यह स्पष्ट कर दिया है कि इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है। और आस्तिक मानव-समाजने अनुमानातीत कालसे अद्यावधि एकस्वरसे निष्ठाके साथ इस तथ्यको स्वीकार किया है।

रातको अमीर, पौ फटते ही पथका भिखारी ! निश्चित और व्यवस्थित योजनाके बलपर, वोटोंद्वारा, विजय-प्राप्तिका स्वर्ण-स्वप्न देखनेवाले व्यक्तिको, असफल होकर पश्चात्तापसे हाथ मलते और पराजयके अवसादसे दीर्घ निःश्वास छोड़ते देखा गया है। घटनाके एक ही आकस्मिक झटकेने बड़े-बड़े नरेशोंको तथा महान् राजनीतिज्ञोंको राजसत्ताहीन एवं मधुकरी माँगनेवाले संन्यासी बना डाला है। जगत्में कब क्या परिवर्तन होनेको है, उसे सर्वेश्वर सूत्रधार ही जानते हैं। किसी भगवदीयने क्या ही ठीक कहा है—

कह रहा है आसमाँ यह सब समा कुछ भी नहीं।
पीस दूँगा एक गर्दिशमें जहाँ कुछ भी नहीं॥
जिनके महलोंमें हजारों रंग के फानूस थे।
झाड़ उनकी कब्र पै है और निशाँ कुछ भी नहीं॥
जिनके धौंसेसे जमीनो-आसमां थे काँपते।
चुप पड़े हैं कब्रमें और हूँ न हाँ कुछ भी नहीं॥

तो यहाँ एक ऐसे ही वैद्युतिक झटकेसे घटित विचित्र घटना—सत्य घटनाका वर्णन किया जा रहा है।

पंजाबके अमृतसर नगरको आनेवाली एक बरातको मार्गमें लुटेरोंने लूट लिया। बीस-पचीस हजारकी क्षति हुई। पुलिसने बहुत प्रयत्न किये, परंतु वह लुटेरोंको न पकड़ पायी। खुफिया पुलिसके एक वरिष्ठ अधिकारी इसपर झल्ला उठे और उन्होंने स्वयं इसका पता लगानेका दृढ़ निश्चय कर लिया।

एक बड़े दर्पणके सम्मुख खड़े होकर वे नकली साधुका स्वाँग भरने लगे। लम्बी दाढ़ी, लम्बी जटा, गलेमें लम्बी रुद्राक्षकी माला, ललाटपर भस्मका त्रिपुण्ड्र और तनपर वस्त्रके नामपर मात्र एक कौपीन। स्वाँग सजनेमें हमारे यह नकली साधु असलीको भी मात कर गये और दर्पणमें प्रतिबिम्बको देखकर विस्मित और मुग्ध होकर मुस्करा दिये।

उन्हें एक सूराख मिला कि दस्युदल हरिद्वारमें है। वे अपनी मण्डलीके साथ उधर ही चल पड़े। गङ्गाके घाटपर वे अकेले ही दिन-रात रहते। पर्वके उपलक्ष्में विशालसंख्यामें यात्रीगण, मैयाके पुण्य-स्नानको आ रहे थे। हमारे साधु बाबा तो काष्ठमौन धारे हुए थे, परंतु उनके सजग पैने नेत्र, दर्शकोंकी दृष्टि बचाकर स्नानार्थियोंको देख-पहचान रहे थे।

श्रद्धालु गृहस्थी आते, फल, मूल, वस्त्र व मिठाई रख जाते। उचक्के आते, सबको हाथ बता जाते। परंतु हमारे मौनी बाबा अपने अर्द्ध-उन्मीलित नेत्रोंसे सब देख-गुनकर भी चुपचाप बैठे रहते।

एक दिन—दो दिन—तीन दिन निरन्तर इस निर्विकार मूर्तिके दर्शन करते रहनेसे दर्शनार्थियोंके मनमें श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न होने लगी। अब तो दर्शनार्थियों-की भीड़ बढ़ने लगी। सभी कहते—बड़े त्यागी, बड़े तपस्वी हैं और पूरे पहुँचे हुए हैं। सर्वत्र यही एक चर्चा।

पर्व तो पूर्ण हुआ; परंतु महात्माजीका आसन अखण्ड रहा।

एक साहूकार अपनी पत्नीसहित नित्य नियमपूर्वक दर्शनको आता और बहुत समयतक उनके निकट बैठा रहता। महात्माजीका मौन तो कभी क्षणमात्रके लिये भी भङ्ग नहीं होता। बेचारे आशा लिये हुए आते और निराश मनसे लौट जाते। यह क्रम बहुत समयतक चलता रहा।

पति-पत्नी एक दिन सोचने लगे—'क्या किया जाय जिससे महात्माजी कुछ बोलें—आशीर्वाद दें।' पति बोला—'आज मैं उनके चरण छूकर प्रार्थना करूँगा कि

मेरे संतान नहीं है। इस कारण मैं बहुत दुखी हूँ। हृदयका दुःख स्पष्ट उनके सामने शब्दोंमें व्यक्त कर दूँगा। तुम भी दीनतापूर्वक मेरा समर्थन करना। महात्माओंका हृदय नवनीत-सदृश कोमल होता है। सम्भव है हमारी आर्ति देखकर पसीज जायँ।'

दूसरे ही दिन, निश्चित समयपर दर्शनोंके निमित्त ये गङ्गातटपर पहुँचे। साहूकार और उसकी स्त्रीने प्रार्थना करना—रोना—गिड़गिड़ाना शुरू किया। परंतु उनकी वह श्रद्धामयी मूर्ति टस-से-मस नहीं हुई, न जरा मुँह ही खुला। हारकर बेचारे चले गये!

अनेकों बार इसी प्रकार की गयी उनकी प्रार्थनाएँ महात्माजीको संकेत या शब्दोंमें आशीर्वादतक देनेको भी द्रवित नहीं कर सकीं।

एक दिन, जोरकी आँधी—वर्षा और बीज-गाज। सड़कोंपर पानी-ही-पानी और कीचड़! इधर हमारे महात्माजी अपने प्रणके पक्के तो उधर उनके भक्त-दम्पत्ति भी अपने हठके खरे। कोई भी डिगनेवाला नहीं। यह दम्पति ऐसे भयंकर समयमें भी दर्शनोंको जानेसे न चूके।

नितान्त एकान्त देखकर आज उनका भाग्योदय हुआ—महात्माजी कुछ बोले—'भाई तुम क्या चाहते हो?'

'महाराज! हमारे घर भगवान्‌का दिया सब कुछ है; परंतु एक संतानके अभावमें सब फीका लगता है। एक संतान हो जाय तो हम शान्तिपूर्वक जीवन-यात्रा समाप्त कर सकें।'

'भोले लोगो! मेरे पास संतान कहाँ है?'

'आपके आशीर्वादमें—आपके केवल इतना भर कह देनेमें कि 'तथास्तु'

'महाराज! दुखियोंपर दया कीजिये।'

'हमें जीवनदान दीजिये।'

'हममें ऐसी शक्ति कहाँ है भाई! यह तो भगवद्-आधीन है, वे चाहें तो हो सकता है।'

'आपके चाहनेमें ही उनकी चाह हो सकती है। वे तो भक्ताधीन हैं।'

'नहीं, यह भ्रम है, मैं भक्त नहीं हूँ।'

'चाहे भ्रम ही हो, आप मुखारविन्दसे एक बार 'तथास्तु' तो कह दीजिये।'

'फिर वही भोली बात, मेरे 'तथास्तु' से क्या होना जाना है! यदि भगवान् चाहेंगे तो तुम संतानका मुख अवश्य देख पाओगे।'

'(करबद्ध) तो ऐसा ही आशीर्वाद दे दीजिये।'

महात्माजी हँस दिये।

'नहीं बाबा! आज महान् पुण्यके प्रतापसे आप प्रसन्न हुए हैं तो यही आशीर्वाद दे दीजियेगा कि भगवान् चाहेंगे तो अवश्य तुम्हारे संतान होगी।'

'अच्छा भाई! भगवान् चाहेंगे तो अवश्य तुम्हारे संतान होगी।'

'तथास्तु' कहकर दम्पतिने प्रसन्नतापूर्वक सगुन-गाँठ बाँधी और फिर विनयपूर्वक पूछा—'अभी तो कुछ दिन और विराजना होगा न बाबा?' महात्माजी बोले—'जैसी नारायणकी इच्छा। दिखता तो ऐसा है कि शायद चार-पाँच दिनोंके बाद जाना पड़े।'

'तो फिर हमलोगोंको पुनः पावन दर्शनोंका लाभ कहाँ मिल सकेगा?'

'कोई ठिकाना नहीं।'

'नहीं बाबा, ऐसा न कीजिये, ऐसा कठोर दण्ड हमें न दीजिये।'

'साधु कहीं एक स्थानपर थोड़े ही टिकते हैं, वे तो घूमते-घामते ही रहते हैं।'

'फिर भी बाबा, जैसे इतने दिनोंसे यहाँ विराजना हुआ इसी प्रकार............।'

'हाँ, हो सकता है।'

'तो वैसे सम्भावित स्थानका पता बता दीजिये।'

'देखो, यों निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता। अमृतसरमें एक उच्च सरकारी अफसर बड़े सत्संगी हैं; उनके आग्रहसे वहाँ कभी जाना हो जाता है।' यह कहकर वहाँका ठिकाना लिखवा दिया। दम्पतिने श्रद्धाभक्तिपूर्वक दण्डवत् की और चले गये। इधर इसके चौथे दिन बाद ही लुटेरे पकड़े गये और

महात्माजी भी नौ-दो-ग्यारह हो गये ।

एक—अरे भाई ! वह साधू-वाधू नहीं, कोई खुफिया था ।

दूसरा—नहीं भाई ! ऐसा भी कहीं हो सकता है । भला खुफिया मेरी आँखसे बचा रह सकता है; मैंने जमाना देखा है।

तीसरा—देखा क्यों नहीं ! पर भाई, डाकुओंके पकड़े जानेवाले दिन ही वे क्यों चल धरे ?

चौथा—उनकी मर्जी, फक्कड़ोंको भी क्या कोई बाधा-बन्धन हो सकता है ?

पाँचवाँ—जाने भी दो जी । परंतु हाँ, यह तो बताओ अपने साहूकार भक्तपर वे क्या कृपा कर गये ?

दूसरा—उसे दे गये हैं संतान- होनेका आशीर्वाद ।

एक—सो भी भगवान्‌की मर्जीकी शर्तपर ।

चौथा—जगत्‌का कौन-सा काम बिना भगवान्‌की मर्जीके होता है ।

एक-तब········तब········

चौथा—तब क्या ? निश्चय जान लो, उनका शर्तिया आशीर्वाद भी बिना भगवान्‌की मर्जीसे सम्भव नहीं हुआ है।

पाँचवाँ—खैर जी, जाने भी दो । भगवान् और उनके भक्तोंकी बातें भगवान् ही जाने । हम क्यों व्यर्थमें विवाद करें; चलो चलें ।

(२)

वर्षभरके बाद साहूकारकी पत्नीने एक सुन्दर बालक प्रसव किया । घर बधाईसे गूँज उठा । साहूकारने जी खोलकर दान-पुण्य किया ।

जच्चाके उठनेका मुहूर्त आते ही वे उसी दिन अमृतसरको रवाना हो गये ।

एक भव्य कोठीके द्वारपर वे पहुँचे । संतरी पहरेपर खड़े थे । एक प्यादेके साथ उन्होंने भीतर संदेश पहुँचवाया और वे तुरंत बुलवा लिये गये ।

एक विशाल सुसज्जित कक्षमें हमारे पूर्वपरिचित साधुजी पुलिसके एक उच्चाधिकारीके भेषमें विराजमान मिले । एक बार तो ये सहमे-सकुचे। परंतु हास्यभरी अभ्यर्थनाके साहसपर वे उनके चरणोंकी ओर झुके। साधुजी बोले—

'छिः यह क्या भला ?'

'यह बालक आपकेही आशीर्वादका फल है; इसे आपके श्रीचरणोंमें स्थान दीजिये ।'

'अरे भाई ! तुम बातको ठीक-ठीक नहीं समझे हो; मैं नकली साधु बनकर डाकुओंको पकड़ने गया था । तुमने जब किसी तरह मेरा पिण्ड नहीं छोड़ा तो लाचार होकर मुझे····' बीचहीमें आनन्दविह्वल पत्नीने कहा—

'आप जो भी थे, जो भी हैं, हमारे परम पूज्य हैं । आपहीने हमारे अंधेरे घरको आलोक प्रदान किया है ।'

'हमारे शून्य-शुष्क हृदयोंमें आनन्द संचार किया है ।'

'नहीं-नहीं । मै तो नकली साधु था और तुम्हारे तंग करनेपर भेषकी टेक रखते हुए सहमते-सकुचते केवल उस दयामय जगदीश्वरके नाम और भरोसेपर छलपूर्वक आशीर्वाद दिया था । भला, कहीं मेरे आशीर्वादसे········'

'(बीचहीमें हाथ जोड़कर) भले ही आप नकली साधू रहे हों, हमारा भला तो आपहीके आशीर्वादसे हुआ है' यह कहकर उन्होंने बालकको उनके चरणोंमें रखकर एक सहस्र मुद्रा भेंट की ।

अफसर साहबके हृदयमें एकाएक भावोंका प्रवाह भयंकर वेगसे उमड़ा जो पद-प्रतिष्ठा, बाह्यावरण, मेरा-तेरा सबको दूर, अतिदूर बहा ले जाकर अनन्तमें अन्त हो गया । उनका मुखमण्डल श्वेतपीत होकर तुरंत ही उद्भासित हो उठा और वे मन-ही-मन इस वाक्यकी आवृत्ति करने लगे—'जब मुझ नकली साधुकी बात उन्होंने रख दी; यदि मैं असली साधु बन जाऊँ तो····

फिर भयंकर अंधड़ उठा । अंदर-बाहर काँप उठा । सहसा एक आलोक फूट पड़ा और हमारे ये पुलिसके बड़े अफसर साहब दम्पतिके साथ ही गेरुए वस्त्र धारण करके 'सच्चे साधू' बनकर हरद्वारको चल पड़े ।

अपने जीवनको सुन्दर बनाइये

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी)

मनुष्यके जीवनमें निराशा तथा निरुत्साहके लिये कहीं स्थान नहीं है। आप निरन्तर आगे ही बढ़ते रहिये। भगवान्‌का वरद हस्त आपके मस्तकपर सदा विराजमान है। आवश्यकता है केवल विश्वास करनेकी। भगवान्‌में तथा भगवान्‌की अहैतुकी कृपामें अटल विश्वास कीजिये। यही आपकी अक्षय पूँजी है। जिसके पास यह विश्वासरूपी अक्षय पूँजी है, वही अपनी जीवन-यात्राको वेखटके सफल बना सकता है। विश्वासी पुरुषके सामने सफलता हाथ जोड़कर खड़ी रहती है।

जो अविश्वासी हैं, उन्हींका जीवन विपत्तिमय तथा निराशापूर्ण रहता है। उन्हींके ऊपर संकटोंका शासन रहता है और उन्हींके घर दरिद्रता देवी डेरा डाल देती है।

विश्वास एक महामन्त्र है जिसके द्वारा आप असीम शक्ति तथा अपूर्व बलको प्राप्त कर सकते हैं। अंगदजीकी कथा आपने सुनी होगी। ये एक बन्दर थे। पर था भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास। दूत बनकर लङ्केशके दरबारमें पहुँचे। जिस रावणके रथकी गड़गड़ाहट सुनकर देवताओंके दम निकलने लगते थे, उसीके सामने जाते हुए अंगदजीको जरा भी भय नहीं हुआ। जैसे हाथियोंके झुंडमें मृगराज सिंह घुस जाता है, वैसे ही ये वानरराज राक्षसोंसे घिरे हुए दशाननके दरबारमें पहुँच गये। रावणकी इच्छा न रहते हुए भी सभी निशाचर इनके तेजके सामने झुक गये और सबने उठकर स्वागत किया।

उठे निसाचर कपि कहुँ देखी।
रावन उर भा क्रोध बिसेषी॥

रावण और अंगदके बीच बातोंकी झड़ी लग गयी। रावण जो कुछ कहता है, अंगदजी उसका मुँहतोड़ उत्तर देते हैं। अन्तमें एक ऐसा अवसर आया कि अंगद-जी बातों-ही-बातोंमें श्रीसीता महारानीको ही बाजी लगाकर बैठ गये—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी।
फिरहिं राम सीता मैं हारी॥

पहले तो रावण खुशीसे फूल उठा। जो शङ्कर-पार्वती-सहित कैलाशगिरिको हाथपर उठा सकता है, उसके लिये एक वानरको उठाकर कोसों दूर फेंक देना कौन-सी बड़ी बात थी। उसने तो निश्चय समझ लिया कि सीताजी बिना श्रम ही मिल गयीं। पर बात बड़ी विचित्र रही। अंगदजीको भगवान्‌के प्रताप और महिमा-पर पूर्ण विश्वास था; क्योंकि वे परम भागवत थे। भागवतोंको तो भगवान्‌का ही बल और भरोसा रहता है। उनके भगवान्‌की महिमा भी तो विचित्र है।

'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई'
'मसकहिं करहिं बिरंचि प्रभु अजहिं मसक ते हीन'
'मसक बिरंचि बिरंचि मसक सम करहु प्रभाउ तुम्हारो'

रावणकी आज्ञासे मेघनादके समान असंख्य योद्धा लग गये, पर अंगदके चरणको टस-से-मस नहीं कर सके। धन्य है भगवान्‌की महिमा और धन्य है भक्तका विश्वास।

तासु सभा रोप्यो चरन जो तौल्यो कैलास।
स्वामी की महिमा कहौं सेवकका बिश्वास॥
(दोहावली)

धन्य हैं वे पुरुष, जिनको भगवान्‌में अटूट विश्वास है। आप ईश्वरके अंश हैं। उन अंशी भगवान्‌की शक्ति आपके अंदर काम कर रही है। अतएव आप अपनी शक्तियोंमें पूर्ण विश्वास रखकर उन्नति-पथपर चलते रहिये।

आप ईश्वरकी शक्तिको पा सकते हैं, उनकी कृपा आपको प्राप्त हो सकती है। यदि आप उनके ऊपर

विश्वास तथा भरोसा रखें। आपमें ऐसी अपूर्व शक्ति आ सकती है कि आप स्वयं अपनी परिस्थितिका निर्माण कर सकते हैं। कोई भी विघ्न-बाधा आपके मार्गमें ठहर नहीं सकती।

सर्वप्रथम आप जैसे-तैसे अपने हृदयको शुद्ध कर लीजिये। फिर अपना एक आदर्श लक्ष्य चुन लीजिये। मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य तो भगवत्प्रेम अथवा भगवान्‌की प्राप्ति ही है। शय्याके पूर्व, शय्या-त्यागके पूर्व, स्नानके समय, उपासनाके बीचमें तथा भोजनके समयमें बार-बार मन-ही-मन अपने लक्ष्यका चिन्तन करते रहिये। यही नहीं, चलते-फिरते, खाते-पीते सदा अपने लक्ष्यका स्मरण करते रहिये। अपने प्रभुसे बार-बार प्रार्थना कीजिये। सदा सद्विचारोंसे अपने अन्तःकरणको भरे रखिये। कभी भी कोई कुविचार मनमें उठने तक भी न पाये। मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा ही बन जाता है। अतः सदा सावधान! पर-निन्दा, पर-दोष-दर्शन, पर-चर्चा, पर-स्त्री और पर-सम्पत्तिसे दूर रहिये। आपका जीवन सुन्दरतम बन जायगा।

भगवान् सबका भला करें

संकटके समय विश्वासी भक्तकी भावना

मैं भगवान्‌की संतान हूँ और निरन्तर उनकी स्नेहभरी संनिधिमें हूँ। इस अनुभूतिसे मुझे अपार साहस एवं शान्ति प्राप्त होती है।

विकट परिस्थितियोंमें मुझे असामर्थ्यका अनुभव करनेकी आवश्यकता नहीं। जिम्मेवारियोंका बोझ भी अपने ऊपर माननेकी मुझे आवश्यकता नहीं; और न जीवनकी परिस्थितियोंके परिवर्तन होनेपर मुझे यह भय करनेकी आवश्यकता है कि मेरी सुरक्षा—मेरा आश्रय अब विचलित हो रहा है।

'मैं कभी ऐसे स्थानपर नहीं रह सकता, न जा सकता जहाँ भगवान् विद्यमान न हों'—यह विचार मेरे लिये कितने उत्साह, विश्वास और स्थिरताका है। मुझे भय करनेकी आवश्यकता नहीं; न मुझे संदेह करनेकी आवश्यकता है। मैं भगवान्‌की संतान हूँ; सदा उनके संरक्षणमें हूँ। वे मुझे प्यार करते हैं और उनका यह प्यार कभी नष्ट नहीं होता। भगवान् जीवनकी प्रत्येक गतिमें मेरा मार्गदर्शन करते हैं तथा मुझे उस मार्गपर बढ़ा ले चलते हैं। भगवान् सदा मेरे संनिकट हैं, मुझे सदा प्यार करते हैं; सदा मेरी पुकारका उत्तर देते हैं एवं सदा मेरी सहायता करते हैं।

'मैं भगवान्‌की संतान हूँ'—मैं इस सत्यका बार-बार स्मरण करता हूँ। प्रतिदिनकी प्रार्थनाके समय मैं भगवान्‌की संनिधिकी दृढ़ भावना करता हूँ और मैं अनुभव करता हूँ कि भगवान्‌का प्यार मेरे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सक्रिय है।

मैं भगवान्‌में हूँ और भगवान् मुझमें हैं।

गायकी वर्तमान स्थिति और उसकी रक्षाके साधन

(लेखक—श्रीयुत पं० ठाकुरदासजी भार्गव, संसद्-सदस्य)

[गताङ्क पृष्ठ १०८४ से आगे]

(१०) कोई पशु अनुपयोगी नहीं

यहाँ आपकी सेवामें एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात विचारार्थ उपस्थित करना सुविधाजनक होगा। यह दुर्भाग्यकी बात है कि हमारा मनुष्य-गणना एवं पशु-गणनासे सम्बन्धित संविधान इतना अस्पष्ट और भ्रमात्मक है। सबसे प्रमुख प्रश्न तो यह है कि भारतमें बेकार पशुओंकी संख्या क्या है, जिसके बारेमें विशेषज्ञ इतना तूल बाँधते हैं। परंतु संख्या बतलानेके पहले बेकार पशुकी परिभाषा करनी होगी। कुछ लोगोंके विचारानुसार गाय और उसका वंश कभी बेकार नहीं होता; क्योंकि जब वे दूध नहीं देतीं अथवा बछड़ा जननेमें असमर्थ होती हैं या बैल हल आदि खींचनेके काममें समर्थ नहीं होते, तब भी भारतमें बेकार पशुओंको खिलानेमें जितना खर्च होता है, उससे अधिक उनके गोबरसे प्राप्त हो जाता है। पशु-संरक्षण-समितिकी रिपोर्टके अनुसार एक बेकार पशुके पालनका व्यय प्रतिवर्ष १६) आवर्तनीय, तथा ७) अनावर्तनीय होता है, यदि पशुको किसी ऐसे गो-सदनमें भर्ती किया जाय, जहाँ पानी और घासकी अधिकता हो और वे पशुके गो-सदनमें भर्ती होनेके पूर्व काममें न लाये गये हों।

भारत-सरकारके द्वारा निश्चित मापदण्डके अनुसार यह खर्च १८) वार्षिक होता है, जो सरकार उस आदमी या गोशालाको देती है, जो पशुओंकी रक्षाके लिये गैरसरकारी गो-सदन चलाते हैं। किसी तरह भी यह व्यय २५) वार्षिकसे अधिक तो होता ही नहीं, यदि गो-सदनमें बची हुई घास, जमीन और पानीका हिसाब न लगाया जाय। गोबर और गोमूत्रसे होनेवाली आय अनुमानतः ३४) गोबरसे, और १४) गोमूत्रसे—अर्थात् कुल ४८) होती है। इस प्रकार कुछ लोगोंका दावा है कि निरर्थक पशुको भी कसाईखाने न भेजकर यदि अपनी आयुभर जीवित रहने दिया जाय तो देशको हत्याकी अपेक्षा अधिक लाभ होगा। चाहे जो हो, निरर्थक पशुओंकी संख्याका प्रश्न ही एक ऐसा प्रश्न है जो किसी भी ठीक आधारपर गणना नहीं होने देता। इस प्रकारके निरर्थक पशुओंको भूलसे अनुत्पादक पशु, न पोसानेवाले पशु आदि संज्ञाएँ दी जाती हैं। जनगणनाकी रिपोर्टमें 'आदि'-की परिभाषा की गयी है और बचे-खुचे पशुओंको 'आदि' संज्ञा दी गयी है, जिसका अर्थ 'निरर्थक' कदापि नहीं हो सकता। सर्वसाधारणके दृष्टिकोणसे वे अनुत्पादक या न पोसानेवाले पशु कहे जा सकते हैं। 'पशु-विकास और संरक्षण-समिति'की १९४७-४८ की रिपोर्टमें पृष्ठ १५ पर लिखा है—

'किसी सही और विश्वसनीय आँकड़ेके अभावमें अनुमान किया जाता है कि देशमें सारी पशु-संख्याका २% अनुपयोगी है। इसके अतिरिक्त यह भी अनुमान है कि लगभग ८% पशु अनुत्पादक हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि लगभग २८ लाख अनुपयोगी और करीब एक करोड़ १२ लाख अनुत्पादक पशु हैं।'

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अनुपयोगी' और 'अनुत्पादक' पशुओंके बीच एक अन्तर रखा गया है। इस रिपोर्टका प्रायः हवाला दिया जाता है, और विशेषज्ञ इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि १०% पशु निरर्थक हैं। श्री जाबराव देशमुखने संसद्में २१–५–१९५४ के अपने भाषणमें इस संख्याको और भी ढुलमुल तरीकेसे प्रकट करते हुए कहा है—

'देशमें सब प्रकारके पशुओंकी संख्या २२ करोड़के लगभग है, जिनमें कम-से-कम १०% और सम्भवतः ३०% न्यूनाधिक रूपसे निरर्थक पशुओंकी श्रेणीमें आते हैं।'

'उत्तरप्रदेश गो-संवर्द्धन-समीक्षा-समिति'ने १९५३ ई०में जो रिपोर्ट पेश की थी, उसमें वस्तुतः निरर्थक, अर्थात् जो न दूध देते हैं और न कर्षणके काममें आते हैं, ऐसे पशुओंकी संख्या ०.७% होनेका अनुमान करते हुए रिपोर्टके पृष्ठ ४५ में लिखा गया है कि—

'उत्तरप्रदेशकी १९५१ की पशुगणनामें ऐसे पशुओंकी संख्या, जो न तो बछड़ा जनते हैं और न खेती आदिका काम ही करते हैं १८३२७६ बतायी गयी है, जहाँ कि १९४५ में यह संख्या १३३९१४ थी। इनमें पहली संख्या १९५१ की पशु-संख्याका ०.७% तथा दूसरी संख्या १९४५ की पशु-संख्याका ०.६% है।''

१९५१ की भारतीय पशु-गणनामें 'अन्य पशुओं' की संख्या २.५% बतायी गयी है तथा १९५६ की गणनामें पूरी

पशु-संख्या घटकर ३०,५४,००० हो गयी है, और अन्य पशुओंकी संख्याका अनुपात घटकर २% हो गया।

यदि हम 'भारतमें पशु-पोषणकी तुलनामें मानवी पोषणकी रिपोर्ट'को देखें, जो सरकारके द्वारा नियुक्त वैज्ञानिक विशेषज्ञोंकी एक समितिने इस विषयकी जाँच करके प्रकाशित की है, तो यह ज्ञात होगा कि उस समितिके विचारसे प्रतिदिन दो पौंडसे भी कम दूध देनेवाली गायोंकी नस्ल भारतकी सारी पशु-संख्याका लगभग ९०% है, और उनको एक प्रकारसे आर्थिक दृष्टिसे लाभदायक नहीं कह सकते। जैसा कि उनकी रिपोर्टके पृष्ठ १५ से ज्ञात होता है, उन्होंने इसको यथार्थताके दृष्टिकोणसे देखा है।

तालिका ३

दुग्धोत्पादनकी क्षमताके अनुसार ब्यानेवाले या दूध देनेवाले पशुओंका विभाजन

श्रेणी	दैनिक दुग्धोत्पादन (पौंडमें)	पूर्ण संख्याकी तुलनामें प्रत्येक जातिका प्रतिशत।	
		गाय	भैंस
१	½ पौंडतक	२८.६	०.१
२	½ से १ पौंडतक	१६.२	०.८
३	१—२ ,,	४९.५	१८.३
४	२—३ ,,	३.०	३७.५
५	३—४ ,,	२.७	२४.७
६	४—५ ,,	०.१	८.३
७	५—६ ,,	०.१	१.४
८	६—७ ,,	०.१	९.०
९	७ से ऊपर	०.१	०.१

तालिका ३ में प्रदर्शित तथ्योंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूध देनेवाले भारतीय पशुओं, विशेषतया गायोंका उत्पादन अत्यन्त असंतोषप्रद है। प्रतिदिन दो पौंड या उससे भी कम दूध देनेवाले पशुओंको पालनेकी कोई सार्थकता नहीं दीखती। साधारणतः ऐसे पशुओंको नष्ट कर देना चाहिये। परंतु इस कार्यको करनेके पहले इस नीतिके ग्रहण करनेपर सामने आनेवाले परिणामोंको दृष्टिमें रखना चाहिये। यदि २ पौंड या इससे भी कम दूध देनेवाले पशुओंको अयोग्य कहकर बहिष्कृत कर दिया जाय तो इसका अर्थ होगा वर्तमान दूध देनेवाली गायोंमेंसे ९०% को नष्ट कर देना तथा इस श्रेणीके द्वारा प्राप्त होनेवाले कुल ९७ लाख टन दूधकी उपजमेंसे ७० लाख टनकी हानि। भारतमें ब्यानेवाली (गाभिन) गायोंसे दो प्रकारके लाभ होते हैं; वे केवल दूध ही नहीं देतीं, बल्कि बैल भी प्रदान करती हैं। इसलिये यह सोचकर कि वर्तमान कृषि-योग्य भूमिकी खेतीके लिये बैलोंकी वर्तमान संख्याको बनाये रखना आवश्यक है, और नस्ल बढ़ाकर उनका स्थान ग्रहण करनेके लिये दूसरे नये बैल उत्पन्न करना भी उतना ही आवश्यक है, बछड़ा देनेवाली गायोंकी संख्याको चार करोड़, ६३ लाख, चालीस हजारसे घटाकर २५ लाखपर ले आना व्यवहार्य नहीं हो सकता, यद्यपि इनमें अधिकांशकी दुग्धोत्पादन-क्षमता इतनी कम है कि उसको देखते हुए इनको पालनेमें उत्साह नहीं रह जाता।

गायों तथा उनके द्वारा उत्पन्न बैलोंकी संख्याके बीच जो वर्षोंसे एक प्राकृतिक संतुलन स्थापित हो गया है, उसे सहसा भङ्ग कर देनेपर कृषि-जन्य उत्पादनपर उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। इसलिये आज जितनी बछड़ा देनेमें समर्थ गायें हैं, उनकी तबतक आवश्यकता रहेगी जबतक कि उनमें बछड़ा देनेकी सामर्थ्य है। आज उनके स्थानपर अधिक योग्य पशुको लाया तो जा सकता है, परंतु अभी वर्षोंतक इनकी संख्यामें कमी करनेकी कोई गुंजाइश नहीं है; क्योंकि दुग्धोत्पादनमें १०० से २०० प्रतिशत वृद्धिकी क्षमतावाली भावी नस्ल तैयार करनेमें अभी बहुत समय लगेगा।

इस रिपोर्टमें स्थितिपर बहुत ही यथार्थ दृष्टिसे विचार किया गया है। इसको देखकर हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि आज एक भी गाय ऐसी नहीं है, जिसे हम हटा सकें; और न कोई बैल ही ऐसा है, जिसे हम फालतू कह सकें। भारतके पशुओंके उपयोगी-अनुपयोगी होनेकी कसौटी दूसरे देशों-के उसी कोटिके पशुओंके सम्बन्धमें लगायी जानेवाली कसौटीसे भिन्न है। भारत-जैसे कृषिप्रधान देशमें, जहाँ मुख्यतया बैल ही भूमि जोतने या सामान एक जगहसे दूसरे जगह पहुँचाने-का कार्य करते हैं, केवल दुग्ध देनेकी क्षमता, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, अधिक मूल्य नहीं रखती। इसलिये ऐसा लगता है कि भारतमें वैसे फालतू पशु हैं, जिनके अस्तित्वकी कोई सार्थकता नहीं है तथा जिन्हें अपनी पूरी आयु भर जीनेका अधिकार नहीं है। जो भी हो, उनकी ठीक-ठीक संख्या बताना बहुत कठिन है, अधिक-से-अधिक उसे हम १% तक रख सकते हैं। विशेषज्ञ लोग आर्थिक दृष्टिसे अनुपयोगी पशुओंको उपयोगी बनानेके उत्तरदायित्वसे बचनेके लिये इनके आँकड़े बढ़ा-चढ़ाकर देते हैं। राष्ट्रपिता

महात्मा गाँधीने रास्ता दिखलाया, किंतु विशेषज्ञ लोग उनके आदर्शका अनुसरण करनेमें समर्थ न हो सके। उन्होंने ग्वालाऊ नसलको, जिसे लोग केवल बैल पैदा करनेके लिये पालते थे, द्विविध प्रयोजन सिद्ध करनेवाली गाय बना दिया, जो कहते हैं कि अब प्रतिदिन लगभग ५ सेर दूध देती है। उत्तरप्रदेशमें भी बहुत-सी नस्लें द्विविध प्रयोजन सिद्ध करनेवाली गायोंके रूपमें बदल दी गयी हैं। उत्तरप्रदेश गोसंवर्द्धन-जाँच-समिति अपनी रिपोर्टके पृष्ठ ५८ में कहती है—

'इस राज्यमें हमको ऐसे उदाहरण पहलेसे ही प्राप्त हैं, जहाँ दुधारू नस्लके साँड़ोंसे इस प्रकार नस्ल-सुधारका कार्य हाथमें लिया गया है और गाँवोंके निम्नतम कोटिके तथा वर्गविहीन पशुओंसे महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त हुए। इस दिशामें हमारे अन्यतम सदस्य रायबजरंग बहादुरसिंह भदरीने भदरी गाँवमें जो कार्य किया, उससे इस कथनकी पूर्ण प्रामाणिकता सिद्ध होती है। उनकी योजनाके अन्तर्गत एक बड़े क्षेत्रमें गत १४ वर्षोंतक किये गये कठिन और अथक श्रमके फलस्वरूप यह देखा गया कि किसानोंकी सीमित शक्तिके द्वारा भी अच्छे काम लायक बैल तथा ६से १० सेरतक दूध देनेवाली गायें तैयार करना सम्भव है। पुनः काढ़ाघर जि॰ इलाहाबाद-में पण्डित काशीप्रसाद सिरहीरने बड़ी योग्यतापूर्वक यह सिद्ध करके दिखला दिया है कि किस प्रकार वर्गविहीन पशुओंकी नस्ल दुग्धालयकी दुधारू नस्लके द्वारा उन्नत की जा सकती है। सिंधी साँड़के संयोगसे समुन्नत किये गये बहुसंख्यक पशु यहाँ देखनेमें आते हैं; उनमेंसे कुछ थोड़े-से तो देखनेमें हूबहू सिंधी-से लगते हैं; और कुछ तो बहुत अधिक दूध देते हैं। इस क्षेत्रके ग्रामीणोंको नर और मादा दोनों प्रकारके पशुओंकी सुधरी नस्लकी उपयोगितापर पूरा विश्वास हो गया है। और उनको निश्चय हो गया है कि वे आर्थिक दृष्टिसे कहीं अधिक उपयोगी हैं; कहीं अधिक दूध देते हैं तथा उनके दूधमें घीका अनुपात भी लगभग उतना ही रहता है, जितना स्थानीय भैंसोंमें पाया जाता है। इस दिशामें अच्छा काम समितिके प्रमुखने बलिया और मिर्जापुरके जिलोंमें देखा। बलियामें शाहबादी और गङ्गातीरी नस्लें ज्यादे पसंद की गयी हैं, जब कि मिर्जापुरमें और बलियाके कुछ हिस्सोंमें हरियानाकी नस्ल अधिक पसंद की गयी है। दूसरा प्रश्न है खेरीगढ़, पँवार तथा कनाथा-जैसी नस्लोंको बढ़ानेका, जो केवल—बैलोंके लिये प्रसिद्ध हैं। ये पशु केवल घुमक्कड़ जातियोंके लोगोंद्वारा पाले जाते हैं और कृषक लोग बहुत कम इन नस्लोंके पशुओंको पालनेका काम हाथमें लेते हैं।'

ऐसी नस्लोंको द्विविध प्रयोजन सिद्ध करनेवाली नस्लोंमें बदलनेकी अक्षमता और अयोग्यता विशेषज्ञोंके लिये एक स्थायी कलङ्क है, और इसके परिणामसे बचनेके लिये वे फालतू पशुओंके आँकड़े बढ़ाकर अपनी जान बचाते हैं, और इन पशुओंकी हत्या करना ही उनके विचारसे इस प्रश्नका सरल हल है। यद्यपि महात्मा गांधी और श्रीकिदवईके विचारसे एक सुव्यवस्थित राज्यमें इन फालतू पशुओंके निर्वाहका उत्तरदायित्व सरकारपर है, ऐसे पशु बहुतायतसे पाये जाते हैं, तथा इस श्रेणीके (३,६०,०००) पशु भारतके गोशालाओं और पिंजरापोलोंमें पाये जाते हैं, जैसा कि १९५६ की पशु-गणनाकी रिपोर्ट, पृष्ठ ७४ से ज्ञात होता है। तथा दूसरे ऐसे फालतू पशुओंको कृतज्ञ किसान अपने बूढ़े माता-पिताके समान घरोंमें ही रखकर पालते-पोसते हैं। उनमेंसे थोड़े पशु सड़कोंपर भी भटकते हुए पाये जाते हैं और भगोड़े पशुओंके समान इधर-उधर घूमते रहते हैं, और उनके लिये समालोचनाकी पर्याप्त सामग्री उपस्थित करते हैं, जो उनके प्रति अपने कर्तव्योंका अनुभव तो करते नहीं, केवल उनका आलोचनाके हेतु प्रयोग करते हैं। इन भटकनेवाले पशुओंका प्रश्न भी इतना गम्भीर नहीं है, जिसको सरकार हल न कर सके। हिसार पशु फार्मके क्षेत्रमें ऐसे पशु हजारोंकी संख्यामें हैं, और पशु-फार्मके लोग उनको साधते हैं, खूँटेसे बाँधकर पालते हैं और उपयोगी पशु बना लेते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि फालतू पशुओंकी समस्या उतनी गम्भीर नहीं है जितनी वह बतायी जाती है।

गोचर भूमियोंपर अधिकार करनेकी सरकारकी अपनी नीति भी कुछ अंशतक इन आवारा पशुओंकी वृद्धिके लिये उत्तरदायी है।

सर्वप्रथम आवश्यकता इस बातकी है कि अब बेकार पशुओंका उत्पादन शीघ्र बंद कर दिया जाय। और दूसरी बात यह है कि वर्तमान पशुधनकी उचितरूपमें व्यवस्था की जाय। यदि इस समस्याको हल करनेकी इच्छा और निश्चय हो तो इसका समाधान बहुत कठिन नहीं है।

(११) वर्तमान दुरवस्था और उसे दूर करनेके उपाय

यहाँतक तो मैंने वर्तमान अवस्थाकी पृष्ठभूमिको दिखलाया है। Indian Live-stock Statistics 1953-1954 to 1955-1956 में, जो अभी कुछ ही

दिन पूर्व प्रकाशित हुए हैं, यद्यपि भूमिकामें इसका तिथ्यङ्कन फरवरी, १९५७ किया गया है, वर्तमान दुरवस्थाकी गम्भीरताको स्पष्ट कर दिया गया है। बड़े ही दुर्भाग्यका विषय है कि इस प्रकारके प्रकाशनके कार्यमें सालभरसे अधिक विलम्ब हो गया, और गोसंवर्द्धन कौंसिल १९५७-१९५८ की रिपोर्टमें दिये हुए आँकड़े भ्रामक हैं।

(१२) वार्षिक पाँच करोड़ मन दूधकी कमी

Indian Live-stock Statistics 1956 (भारतीय पशुधन-सम्बन्धी आँकड़े १९५६) के पृष्ठ ३२, तालिका ३. १ के अनुसार एक गायका औसत वार्षिक दुग्धोत्पादन १९५६ ई० में ३६१ पौंड है; और यही उत्पादन १९५० ई० में ४१३ पौंड था। इसी प्रकार एक भैंसका औसत वार्षिक दुग्धोत्पादन ९७० पौंड है, और यही १९५० ई० में ११०१ पौंड था। एक बकरीका औसत वार्षिक दुग्धोत्पादन १९५६ ई० में १२७ पौंड है, और वही १९५० ई० में औसतन १३४ पौंड था। १९५० ई० में प्रकाशित 'भारतमें दुग्धका व्यवसाय' (The Milk Marketing in India 1950) के पृष्ठ १८८, परिशिष्ट १, पृष्ठ १८९, परिशिष्ट २ तथा पृष्ठ १९०, परिशिष्ट ३ के अवलोकनसे भी ज्ञात होता है कि औसत वार्षिक दुग्धोपादन १९५० ई० में प्रति गाय, भैंस और बकरी क्रमशः ४१३, ११०१ और १३४ पौंड था। उपर्युक्त आँकड़ोंसे सिद्ध होता है कि ५-६ वर्षोंके भीतर दूधके उत्पादनमें प्रति गाय ५२ पौंड, प्रति भैंस १३१ पौंड तथा प्रति बकरी ७ पौंडकी कमी आ गयी है, जिसके फलस्वरूप दुग्धके सम्पूर्ण उत्पादनमें ह्रास हुआ है। दुग्धके उत्पादनके सम्बन्धमें प्रकाशित सरकारी रिपोर्टोंमें दिये गये आँकड़ोंके अनुसार १९५१ ई० में सम्पूर्ण दुग्धोत्पादन ५२ करोड़ मन था। इस विषयमें कृपया देखिये—"Agriculture in Brief 1955", पृष्ठ ४०, तालिका 7.2—

दूध-उत्पादन
(लाख मनमें)

गाय	२४३०
भैंस	२६६०
बकरी	११०
	५२०० लाख मन

भारतीय पशुधन-सम्बन्धी आँकड़े १९५६ के अनुसार दुग्धोत्पादनका परिमाण इस प्रकार है—

गायका दूध	२०,७१,४८,००० मन
भैंस ,,	२५,४०,६८,००० ,,
बकरी ,,	१,६५,२०,००० ,,
	४७,७७,३६,०००

उपर्युक्त आँकड़ोंसे ज्ञात होता है कि इन ५ वर्षोंमें ४,२२,६४,००० मनसे अधिक दूधकी कमी हुई है। परंतु थोड़ी गहरी दृष्टिसे देखनेपर ये आँकड़े ठीक नहीं जँचते, यदि सरकारी रिपोर्टके पृष्ठ १८८ में दिये गये आँकड़ोंके अनुसार हिसाब लगाया जाता है। उक्त रिपोर्टके पृ० १८८ के अनुसार सन् १९४५ से ५० तक सम्पूर्ण भारतीय संघके लिये प्रति गाय वार्षिक दुग्धोत्पादनकी औसत ४१३ पौंड दी गयी है। यह रिपोर्ट १९५० ई०में प्रकाशित हुई थी। मुझे सन् १९५१ के सरकारी आँकड़ोंके सिवा अन्य कोई आँकड़े प्राप्त नहीं हो सके हैं। यदि १९५१ ई०में एक गायका औसत उत्पादन ४१३ पौंड मानें तो गायके दुग्धका सम्पूर्ण उत्पादन २३,२७,०१,५१४ मन आता है। इसी प्रकार उसी रिपोर्टके पृष्ठ १९० के अनुसार यदि औसत भैंसके दुग्धका उत्पादन ११०१ पौंड मान लें तो भैंसका सम्पूर्ण वार्षिक उत्पादन २८,०८,७७,३८१ मन आता है। इसी प्रकार एक बकरीका औसत वार्षिक उत्पादन १३४ पौंड लेनेसे सम्पूर्ण वार्षिक उत्पादन १,५३,३२,७२० मन आता है। इस प्रकार १९५१ ई० में दुग्धका सम्पूर्ण उत्पादन ५२,८९,११,६१५ मन हुआ, जहाँ १९५६ का सम्पूर्ण उत्पादन ४७,७७,३६,००० मन था। इस प्रकार पाँच वर्षोंमें कुल ५,११,७५,६१५ मनकी कमी हुई।

१९५६ ई० की सरकारी गणनाके आँकड़े अर्थात् ४७,७७,३६,००० भी सही नहीं जान पड़ते और पशुधन-सम्बन्धी आँकड़े, १९५६ की रिपोर्टमें दिये गये आँकड़ोंसे इनकी संगति नहीं बैठती। वहाँ दुग्धोत्पादनका परिमाण इस प्रकार दिया गया है—

गायका दूध—

३६१×४,६८,४४,०००=२०,५५,११,८२० मन

भैंसका दूध—

९७०×२,१५,४९,०००=२५,४०,२२,६३१ मन

बकरीका दूध—

१२७×१,१३,२५,६००=१,७४,८१,१८१ मन

कुल ४७,७०,१५,६३२ मन

इस प्रकार यथार्थ कमी—

५२,८९,११,६१५ मन (१९५१में)
४७,७०,१५,६३२ ,, (१९५६में)

अर्थात् ५,१८,९५,९८३ मन होती है। १९५६ ई० में व्यक्त होनेवाला सम्पूर्ण इन पाँच वर्षोंके भीतर क्रमशः सामने आया होगा, परिणाम अथवा गत पाँच वर्षोंमें लगातार रहा होगा। दूसरी स्थितिमें इस सम्पूर्ण योगको ५ से गुणा करें तो कुल २५,९४,७९,९१५ मन होता है। इसमें यदि १९५७ ई० की कमी जोड़ दें तो कुल ३१,१३,७५,८९८ मन हो जायगा। यदि इस संख्यामें १९५८ ई० के मार्च मासतककी कमी जोड़ दें तो कुल कमी ३२,४३,४०,८९४ मन हो जायगी।

यदि मान लें कि १९५१ ई० से इन वर्षोंमें जो कमी हुई है, वह लगातार नहीं हुई है, बल्कि क्रमानुसार हुई है तो निश्चयपूर्वक ऊपर जो कमी दिखलायी गयी है उससे कम हुई होगी, और वह मार्च १९५८ ई० तक २७,५६,३३,२३५ मनतक आ सकती है।

१) प्रति सेरकी दरसे बंबईका मूल्य, करीब ३०) प्रति-मनकी दरसे कलकत्तेका मूल्य तथा २५) प्रति मनकी दरसे दिल्ली-का मूल्य मानें तो इस कमीका मूल्य एक बृहद् आकार धारण करेगा। यदि देहाती क्षेत्रके दूधके भावको ध्यानमें रखें और साथ ही इसका भी ध्यान रखें कि उसमें बकरीका दूध भी सम्मिलित है, तो २०) प्रति मनका भाव बहुत ठीक जँचेगा। इस दुग्धोत्पादनके पूर्णयोगको अब यदि २० से गुणित करें तो कमीका मूल्य ६,४८,६९,९७,८८० रुपयेतक पहुँचता है, अथवा यदि बादकी संख्या ठीक मानी जाय तो यह हानि रुपयोंमें ५,५१,२६,६४,७५० तक पहुँच जाती है। यदि इसके परिणाम-स्वरूप छोटे बच्चों, गर्भवती स्त्रियों, बूढ़ों तथा निम्नवर्गके लोगोंकी एक बड़ी संख्याके, जिनका पौष्टिक आहार मक्खन, दूध-दही है, स्वास्थ्यपर पड़नेवाले प्रभावको देखें तो उस हानिकी कल्पना भी नहीं हो सकती, और उसका विचार करके हृदय काँप उठता है।

भारतमें प्रति मनुष्य प्रतिदिन दूधकी खपत, जो १९३५ में ७ औंस थी, १९५० में घटकर ५.४ औंस हो गयी; और अब प्राप्त गणनाके अनुसार ४.७६ औंस है। परंतु दूसरे देशोंमें यह खपत स्वीडनमें २२.८ औंस, अमेरिकामें १७ औंस, डेनमार्कमें १५.८, ब्रिटेनमें १४.२, आस्ट्रेलियामें १४ और फ्रांसमें ७.७ है। दुग्धोत्पादनकी राष्ट्रिय सीमा अभीतक निर्धारित नहीं हुई है। यह प्रस्ताव है कि राष्ट्रिय विकास, सामुदायिक योजना तथा दूसरे क्षेत्रोंमें उच्च लक्ष्य स्थिर किया जाय, जिससे अगले पाँच वर्षोंमें देशके उत्पादनमें क्रमशः १०% से ३०% तक वृद्धि हो जाय। दुग्धकी खपतसे जनताके स्वास्थ्य और बलपर जो प्रभाव पड़ता है, उसपर जोर डालनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। दुग्धोत्पादनका यह ह्रास निश्चयपूर्वक जनताके मर्मस्थलको हानि पहुँचाये बिना न रहेगा। मैंने संसद्‌में तथा अन्यत्र यह स्पष्टरूपसे कहा है कि निम्नवर्गके लोगोंको उचित मात्रामें मक्खन या दूध नहीं मिलता, और इस तथ्यका समर्थन दुग्धोत्पादनके ह्रासके द्वारा हो जाता है। संविधानकी ४७ वीं धारा कभी कार्यान्वित नहीं की जा सकती, जबतक दूधकी खपत देशमें बढ़ायी नहीं जायगी।

(१३) बैलोंकी कमी

गोसंवर्द्धन-कौंसिलने अपनी १९५६-५७ की रिपोर्टमें वहन-कर्षण-शक्ति और दूधकी कमीपर विशेष ध्यान दिलाया है। वहन-कर्षण-शक्तिके बढ़ते हुए ह्रासपर सब जगह खेद प्रकट किया जा रहा है। देशमें यह सर्वसाधारणकी धारणा है कि जनता तथा पशुओंकी शारीरिक शक्ति दिन-पर-दिन गिरती जा रही है, और दुःखकी बात यह है कि कोई भी इसके लिये चिन्तित नहीं दीखता।

देशमें, कर्षण-शक्तिकी जितनी आवश्यकता है, उसकी तुलनामें आज बैलोंकी संख्यामें जो कमी दीखती है, यह भी एक ऐसी स्थिति है, जिसके विषयमें हम चिन्तामुक्त नहीं हो सकते। भारतीय पशुधनसम्बन्धी १९५३-५४ तथा १९५५-५६ के आँकड़ोंके अनुसार ३५ करोड़ १७ लाख एकड़ भूमिमें खेती होती है, और अगले तीन वर्षों अर्थात् १९५८-६० ई० में १५ लाख एकड़ भूमि खेतीके काममें ली जानेवाली है। इस प्रकार हमको कम-से-कम ३५ करोड़ ३२ लाख एकड़ भूमिकी कृषिके लिये वृषभ-शक्तिकी आवश्यकता है। १९२८ ई० के रॉयल ऐग्रिकल्चरल कमीशन-की गणनाके अनुसार एक जोड़ा बैलसे करीब १० एकड़ भूमि जोती जाती है और १९५६ के ''भारतीय पशुधनसम्बन्धी आँकड़ों''के पृष्ठ ६९ में दिये गये अनुमानके अनुसार अनुमानतः १०.८ एकड़ भूमि एक जोड़ा बैल जोत सकते हैं। ऐसा लगता है कि १९५६में ३वर्षसे अधिक उम्रके काम करनेवाले पशुओंकी संख्या ६,९७,४६,००० थी,

जिसमें नर और मादा, गौ और भैंस दोनोंका समावेश है। खेतीके कामके लिये आवश्यक बैलोंके अतिरिक्त अन्य कामोंके लिये—उदाहरणार्थ बैलगाड़ियोंके लिये, जिनकी संख्या एक करोड़से अधिक है; तथा जो सरकारी अनुमानके अनुसार प्रतिवर्ष दो लाख बढ़ रही है—वर्तमान अनुमानके अनुसार १० लाख बैलोंकी आवश्यकता होगी। उपर्युक्त १० लाखके आँकड़ेका आधार यह धारणा है कि आजकल इस कामके लिये सब प्रकारके पशु—भैंसें, भैंसे, बैल और गायें भी प्रयुक्त होते हैं; और Marketing of Cattle Report 1956, पृष्ठ २२ के अनुसार उनकी संख्या १६ लाख है। यह स्पष्ट है कि कोई भी आदमी भैंस, भैंसे या गायसे खेत जोतना नहीं चाहता। हरियानेमें एक कहावत है—झोटे-तक बाह लिये। ऐसा लगता है कि आज देशमें ७ करोड़, १६ लाख बैलोंकी आवश्यकता है, और १९५६ ई० के पशुधन-सम्बन्धी आँकड़ोंके अनुसार हमारे देशमें केवल ६ करोड़, १७ लाख, ३७ हजार बैल हैं। अब खाद्यान्न और तेलहनके उत्पादनमें वृद्धिके लिये और अधिक भूमिके जोते जानेकी सम्भावना है। इसको यदि ध्यानमें रखें तो बैलोंकी संख्यामें यह कमी और अधिक खटकने लगती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि वर्तमान आवश्यकताकी पूर्ति करनी है तो देशमें मोटे तौरपर एक करोड़से अधिक बैल और चाहिये। यह कमी तब और भी खटकने लगती है, जब हम देखते हैं कि बैलोंकी आवश्यक शारीरिक शक्ति दिन-पर-दिन गिरती जा रही है।

(१४) चारे-दानेकी कमीका प्रश्न

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विशेषज्ञोंके विचारसे पशुओंके इस शक्ति-ह्रासका कारण चारेकी कमी है। मैं नहीं समझता कि रोगका यह निदान कहाँतक ठीक है। हो सकता है कि यह दुरवस्था चारेका ठीक प्रबन्ध या ठीक वितरण न होनेके कारण हो, अथवा तथ्य कोई दूसरा ही हो। जहाँतक चारे-दानेके हिसाबका प्रश्न है, दुर्भाग्यवश विशेषज्ञ लोग हिसाब लगानेमें, किसी परिणामपर पहुँचनेमें अपने ही आँकड़ोंपर स्थिर नहीं रहते।

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना अध्याय १९, अनुच्छेद ३ में निम्नलिखित बात आती है—

'यह कहा जा सकता है कि वर्तमान चारे और दानेके उपलब्ध साधनोंपर पशुओंकी दो तिहाई संख्याका भरण-पोषण ठिकानेसे हो सकता है।'

इससे पता चलता है कि देशमें काफी चारा है, और दाना भी ६६% के लगभग है। इसके अतिरिक्त जब हम देखते हैं कि प्रथम पञ्चवर्षीय योजनाके फलस्वरूप अन्नोत्पादनमें २०%, कपासमें ४५% और तेलहनमें ८% की वृद्धि हुई है, तथा द्वितीय पञ्चवार्षिक योजनाके अनुसार प्रत्याशित वृद्धिका अनुमान कम-से-कम १५% है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि देशमें सब पशुओंके लिये काफी चारा है, और यह तर्क कि अपर्याप्त चारे-दानेके संग्रहकी कमीके कारण एवं तथाकथित फालतू पशुओंके द्वारा उपयोगी पशु मारे जा रहे हैं, बिल्कुल ही निराधार है। अब स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह दिन-पर-दिन खराब होती जा रही है। दूध और कर्षण-शक्तिके उत्पादनमें होनेवाले ह्राससे यह स्पष्ट हो रहा है कि स्थिति किस ओर जा रही है। अब वह दिन दूर नहीं, जब कि परिस्थिति काबूसे बाहर हो जायगी। स्थितिको सुधारनेके लिये मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक निम्नलिखित उपायोंकी ओर ध्यान आकर्षित करता हूँ—

(१५) सुझाव

(१) केन्द्रमें पशु-संवर्द्धन-सम्बन्धी एक पृथक् मन्त्रणालय स्थापित किया जाय और राज्योंमें सर्वश्रेष्ठ मन्त्रीको इसका भार सौंपा जाय। मैं बहुत ही नम्रतापूर्वक निवेदन करूँगा कि केन्द्रमें यह मन्त्रणालय कृषि-मन्त्रीको साथ लेकर प्रधानमन्त्री स्वयं चलायें। रूसमें पशु-संवर्द्धनका कार्य बहुत अधिक विकसित हुआ है, और श्रीक्रुश्चेवके हाथमें ही इसका संचालन है। और रूसके एक प्रधानमन्त्री श्रीमोलोटोवको इस कारण त्यागपत्र देना पड़ा था कि कृषि-सम्बन्धी नीतिमें उनसे कोई भूल हो गयी थी। जबतक भारतके प्रधानमन्त्री स्वयं केन्द्रमें इस विभागका भार अपने हाथमें नहीं लेंगे, तबतक न तो खाद्यका प्रश्न हल होगा और न पशु-संवर्द्धनका कार्य उन्नत होगा; क्योंकि राज्योंके मन्त्री तबतक ठीक काम नहीं करेंगे जबतक वे प्रधानमन्त्रीके अतिरिक्त किसी दूसरे अधिकारीके द्वारा शासित होते हैं। अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें भारतने सर्वोच्च ख्याति प्राप्त की है, और प्रधानमन्त्रीने भारतको विश्वके मानचित्रमें एक प्रमुख स्थान दिलवाया है। कृषिकी दृष्टिसे यह देश अवनतिके गर्त्तमें गिरा हुआ है, और इसका उद्धार कैसे होगा, इस विषयमें सब किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। गत दस वर्षोंमें १३३५ करोड़ रुपयेकी लागतके खाद्यान्नका देशमें आयात हुआ है, और फिर भी, उपजमें काफी वृद्धि होनेपर भी, देश एक विकट समस्यामें पड़ा है।

अन्नका आयात दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। गतवर्ष उत्पादनमें ५.६% वृद्धि होनेपर भी करीब १६२ करोड़ रुपयेका ३६ लाख टन अन्न बाहरसे आया है। मेहता कमेटीकी रिपोर्टने प्रतिवर्ष २० लाख टन या उससे भी अधिक अन्नके आयातकी सिफारिश की है। और सरकारकी रायमें भी, विकासकी तीव्र प्रगति और भूखकी अतृप्त ज्वालाके कारण आत्मनिर्भरता प्राप्त करना कठिन है। यह परिस्थिति अत्यन्त अन्धकारमय और नैराश्यपूर्ण है। कोई भी कृषि-प्रधान देश अर्थके इस निर्यातको सहन नहीं कर सकता। कर बढ़ रहे हैं, तथापि पञ्चवर्षीय योजनाके अन्तर्गत सारी विकास-योजनाओंको कार्यान्वित करना कठिन हो रहा है। दुग्धोत्पादनमें ह्रास भयानक स्थितिमें पहुँच गया है। यदि दुग्धोत्पादनका कार्य चलता रहता अथवा बढ़ाया गया होता तो देशमें अन्नको बाहरसे लानेकी आवश्यकता न होती और पोषणके स्तरमें कुछ उन्नति होती। इस प्रकार इन दोनों उद्देश्यों—अर्थात् खाद्यान्नके विषयमें आत्मनिर्भरता तथा दुग्धोत्पादनमें वृद्धिके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रणालयको योग्यतम व्यक्तिके हाथ सौंपा जाय।

(२) पशु-संरक्षणके लिये नियोजित योजना आयोगमें पृथक् और स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व होना चाहिये।

(३) गो-संवर्द्धनके लिये एक विधानद्वारा संयोजित समिति बने, जिसे गो-संवर्द्धनके पूर्ण अधिकार हों।

(४) जनता, गो-संवर्द्धन-संगठन तथा सरकारमें पूर्ण सहयोग होना चाहिये। गौओंकी नस्लोंके सुधारनेमें समुचित अर्थ-व्ययकी व्यवस्था होनी चाहिये और पशुओंकी उन्नतिके लिये 'चारेका उत्पादन बढ़ाओ' नारा बुलंद करना चाहिये। एक सबल और यथार्थताकी नीति अपनानी चाहिये, जिससे बैलोंकी कर्षणशक्तिमें वृद्धि हो।

(५) (क) १९४७ ई० 'की पशु-संरक्षण और विकास समिति' (Cattle Preservation and Development Committee) के सुझावोंको पूर्णतया कार्यान्वित करना चाहिये, और तदनुसार द्वितीय पञ्चवर्षीय योजनामें परिवर्तन होना चाहिये।

(ख) गो-संवर्धनके लिये केन्द्र और राज्योंमें एक पृथक् मन्त्रीके अधीन एक विधान-संयोजित समिति होनी चाहिये, और योजना आयोगमें पशु-संरक्षणके लिये उसका एक प्रतिनिधि होना चाहिये।

(६) Expert Committee on the Preservation and Slaughter of Cattle in India 1955 की रिपोर्ट, विशेषतया गो-वध तथा गोसदन-योजनाके सम्बन्धमें उसके प्रस्ताव ताकपर रख देने चाहिये और उनके आधारपर कुछ भी नहीं करना चाहिये।

(७) जितनी गोचर भूमि अगस्त १९४७ में छूटी हुई थी, उसको 'पशुओंके चरनेके लिये सुरक्षित' भूमि घोषित कर देना चाहिये, और ग्राम-पंचायतोंकी सहायतासे (सहयोगसे) उसके उपयोगको नियमित कर देना चाहिये तथा उसकी उन्नतिकी योजना बनानी चाहिये।

(८) पशुओंके चरने तथा चारेके उत्पादनके लिये गाँवोंकी सम्पूर्ण कृषि-योग्य भूमिका दशांश पृथक् कर देनेकी राष्ट्रीय नीति बना लेनी चाहिये।

(९) सारी गोचरभूमि या घासकी जमीन जो गाँवोंमें हो या किसी व्यक्ति या गोशाला एवं पिंजरापोल-जैसी संस्थाके हाथमें हो, भूमि-सुधार या अन्य किसी कृषि-सम्बन्धी कानून तथा दूसरे व्यवसाय और उद्योगकी नीतिके प्रयोगसे मुक्त होनी चाहिये।

(१०) गोवधपर पूर्णतया रोक लगानेकी नीति तथा गौओंकी सुरक्षाकी नीति घोषित कर देनी चाहिये, और भूमिके सदुपयोगके आदर्शानुसार पशुधन और कृषिके विकासकी योजना बनानेमें सरकारी विशेषज्ञोंको लगा देना चाहिये, जिससे जनताके लिये पर्याप्त पोषण प्रदान करनेवाले अन्न तथा दूधका उत्पादन हो सके।

(११) साँड़ोंकी कमीको पूरा करनेके लिये प्रथम पञ्चवार्षिक योजनाद्वारा आयोजित साँड़ पालनेके क्षेत्र संचालित होने चाहिये।

(१२) उन क्षेत्रोंमें जो मुख्य ग्रामकेन्द्रोंके बाहर हैं, साँड़ रखनेके केन्द्रोंका जाल बिछा देना चाहिये और अनिवार्य रूपसे साँड़ोंको बधिया करनेका काम देशव्यापी आन्दोलनके साथ शुरू कर देना चाहिये।

(१३) खाने योग्य खली, ग्वार तथा पशुओंके उपयोगी अन्य चारे, खाल और वध किये गये जानवरोंकी हड्डी आदिका विदेशोंमें निर्यात बंद कर देना चाहिये और खादके रूपमें तथा औद्योगिक कार्योंमें खलीका उपयोग भी बंद हो जाना चाहिये।

(१४) वनस्पति घीका निर्माण, अथवा वनस्पति घी, घी और मक्खनका विदेशोंसे आयात बंद कर देना चाहिये।

(१५) विकास-योजनामें गायको वैशिष्ट्य प्रदान करना चाहिये, जिससे ऐसी गौएँ तैयार हो सकें जिनसे हमें दूध और कृषिके योग्य बैल दोनों प्राप्त हो सकें।

ईशावास्योपनिषद्

(रचयिता——श्रीभवेशनाथजी पाठक, एम्० ए०)

(१)

ईश से बसा हुआ सब ओर
जगत जो कुछ जगती में दृश्य।
त्याग-मय भोग एक कर्तव्य
लालसा पर-धन की अस्पृश्य।

(२)

कर्म-रत होओ तुम निष्काम
शरत शत् जीने की जो टेक।
लोक में लोप न होवे कर्म
नहीं कोई पथ बचता एक।

(३)

तमस्-आवृत जो लोक असुर्य
उसीमें जाते मरकर लोक।
जिन्होंने सुनी न मन की बात
किया आत्मा का हनन अशोक।

(४)

नहीं हिलता, मनसे जो तेज
अतीन्द्रिय, इन्द्रियसे जो प्रथम।
ठहरकर भी गति से अप्राप्य,
उठाता जलधि, पवन जो सूक्ष्म।

(५)

युगल चल-अचल उसे तुम जान,
बहुत ही दूर, बहुत ही पास।
बसा अन्तर में सबके वही,
चतुर्दिक रहा उसीसे भास।

(६)

भूतमय आत्मा का है वेष,
आत्ममय भूत सभी यह जान।
पाप अनुवीक्षण से कर शेष,
देखता ओट छिपा भगवान।

(७)

आत्मवत् भूत, परम एकत्व
जानते अनुवीक्षणसे सन्त।
मोह का उन्हें न कोई लेश,
शोक का भी तब होता अन्त।

(८)

व्याप्त सर्वत्र, शुक्र, अशरीर,
स्नायुव्रण-हीन, शुद्ध, निष्पाप।
मनीषी, कवि, परिभू, भू-स्वयं,
सृष्टि का कर्ता, शिल्पी आप।

(९)

तमोभव भौतिकवादी मान,
अविद्या की पूजा में मग्न।
गहन तम में वे भी अज्ञान,
अनैतिक विद्या में संलग्न।

(१०)

अविद्या-विद्याके परिणाम,
अन्य कुछ होते हैं मतिमान।
सुनो बरतो जो कहते धीर,
जिन्होंने व्याख्या दी यह जान।

(११)

अविद्या है भौतिक विज्ञान,
मृत्यु को झेले जो, वह मान।
अमृत चखते विद्याके धनी,
अविद्या-विद्या दोनो ज्ञान।

(१२)

अन्धतम 'असंभूति' का पक्ष,
व्यक्तिवादी जाते उस ओर।
अर्चनारत समष्टि संभूति,
तमोमय उससे भी वे घोर।

(१३)

सुसंभव फल समष्टिके अन्य,
'असंभव' व्यक्तिवाद-फल अन्य।
सुनो समझो जो कहते धीर,
जिन्होंने व्याख्या दी है मान्य।

(१४)

मृत्यु झेले विनाशमय दृष्टि,
व्यक्ति की 'असंभूति' कामना।
अमृत चखता समष्टि 'संभूति',
श्रेय है दोनों ही जानना।

(१५)

हिरण्मय पात्र ढँका है सत्य,
उपासक कर दे उसको नग्न।
चाहते सत्य-धर्म साक्षात्,
आवरण में फिर क्यों है मग्न।

(१६)

प्रजापति, पालक, यम ऋषि-श्रेष्ठ,
प्रकृतिमें जो भासित, तव रश्मि।
किरण के पुञ्ज, देख मैं वही,
तेजमय पुरुष-रूप, 'ब्रह्मास्मि'।

(१७)

भस्म होती जलकर यह देह,
प्राण ही अमर, विश्वमें व्याप्त।
कर्मका ध्यान रहे नित मनुज;
किया तूने करना जो प्राप्त।

(१८)

हे देव, अग्नि, सर्वज्ञ बता,
उन्नति का सुपथ, सुगम, रुचिकर।
आत्माको कर दे पाप-मुक्त,
करते तुमको नित हम नत सिर।

दोनों हाथ लड्डू

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

मेरे अपराधोंका पार नहीं है, मेरे जीवन-सर्वस्व ! दोषोंका विषैला पानी मेरे गले-गले आ रहा है। गले-गले क्या, सिरपर आया जा रहा है। जहाँ-तहाँ बहते-बहकते, भटकते, तेरा विस्मरण कर प्रीतिकी रीति भङ्ग करते हुए मेरी आयु बीत गयी है !

सच, और किया ही क्या है मैंने अबतक इस जन्ममें। इस जन्ममें ही क्यों, जाने कबसे चले आते जन्म-जन्मान्तर-प्रवाहमें। पर फिर भी, मैं निराश नहीं हूँ। तनिक भी तो नहीं। तू मुझे तारेगा, अपनायेगा अवश्य। सोलहों आने विश्वास है मुझे।

बात यह है कि जहाँ मेरे अपराधोंका पार नहीं है, दोषोंका पानी मेरे सिरपर आया जा रहा है, वहीं तेरी करुणा भी तो अनन्त है, छिन-पलमें लहर-बहर करती, तेरी मौजका समंदर भी तो अथाह है बात-की-बातमें निहाल करता।

होड़ होने दी जाय—होकर ही रहेगी मेरे अपराधों-की असीमता और तेरी करुणाकी अनन्ततामें, मेरे दोषों-के पानी और तेरी मौजके समंदरमें।

जीत-हार किसीकी हो, मेरे तो दोनों हाथ लड्डू हैं। करुणा हारी तो अपने अपराधोंकी जीतपर गर्वसे फूल-कर गड़गज होनेका एक और अपराध मजे-मजेमें कर डालूँगा मैं। निन्यानवेसे पूरे सौ बनना किसे अच्छा नहीं लगेगा।

और जो जीतका सेहरा तेरी मौजके समंदरके सिर बँधा और जो बँधेगा ही; क्योंकि तू तू जो है और मैं तेरा जो हूँ, तब तो पौबारह हैं ही मेरे। सच यह हार तो विजयोपहार होगी और होगी जीतका हार—वह हार जिसे तू मेरे—मुझ अपने चारु-चरणोंसे लिपटे हुएके गलेमें अपने हाथों डालकर मुझे अपनी छातीसे लगायेगा। लगाकर सहज मुझे अपनेमें आत्मसात् कर लेगा—इस तरह निजरूप प्रदानकर नितान्त कृतकृत्य करेगा मुझे। कल्पनाहीसे परम और चरम रसानुभूति होती है। इससे बढ़कर जीवनकृतार्थता और क्या होगी मेरे सर्वस्व !

विद्या ददाति विनयम्

(लेखक—श्रीहरिपद विद्यारत्न दास्यार्थी महोदय)

'विद्या विनय प्रदान करती है,' जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें यह सूक्ति बहुत प्रचरित हो गयी है। परंतु दुर्विनीत विद्वान् इतनी अधिक संख्यामें मिलते हैं कि इस उक्तिके अन्तर्निहित सिद्धान्तोंके विषयमें लोगोंको शङ्का उत्पन्न होने लगी है। और यह शङ्का आजकी, इस युगकी ही नहीं है, बल्कि प्राचीन कालमें कुन्तीदेवीने भी श्रीकृष्णसे कहा था—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम्॥

(श्रीमद्भा० १।८।२६)

'जिसको अपने जन्मका, ऐश्वर्यका, वेदाध्ययनका, धनका गर्व बढ़ रहा है, वह तुझ अकिंचन-गोचरका स्तवन नहीं कर सकता।' यहाँ श्रुतका अर्थ अष्टादश विद्यासे है, जिसका उल्लेख विष्णुपुराणमें इस प्रकार है,

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥

(३।६।२८-२९)

विद्वान् होनेकी भावनासे अहङ्कार उत्पन्न होता है कि 'मैं विद्वान् हूँ; और उससे विनय जाता रहता है। फिर हम कैसे कहें कि, 'विद्या ददाति विनयम्'? इस प्रकार जिस विद्यासे अहङ्कार उत्पन्न हो, वह विद्या विद्या है ही नहीं; क्योंकि उस विद्यासे हमको नम्रताके बदले ठीक इसका विरोधी अभिमान प्राप्त होता है। वेदमें भी हमको इसकी चेतावनी मिलती है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः॥

'मूढ़ लोग जो अविद्याके भीतर रहते हुए अपने-आपको धीर और विद्वान् मानते हैं, वे उसी प्रकार भटकते रहते हैं, जैसे अन्धेके पीछे चलनेवाला अन्धा। नाना प्रकारसे अविद्याके भीतर रहते हुए मूर्खलोग अपनेको पूर्ण सफल होनेका मिथ्याभिमान करते हैं।'

इस प्रकार ऐसे लोग बहुश्रुत होनेपर भी विनय प्रदान करनेवाली विद्यासे अभिवाञ्छित फल प्राप्त नहीं कर सकते। इसी कारण यह कहावत प्रचलित है कि 'अल्पविद्या भयंकरी।' 'अल्पज्ञान भयानक होता है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्याध्ययन गम्भीर और यथार्थ हो, तभी वह प्रभावोत्पादक हो सकता है। नहीं तो, ज्ञानके समुद्रतटपर बैठकर भी उसमें छिपी रत्नराशिकी ओर न देख केवल कंकड़ इकट्ठे करना है। जितना ही अधिक आपको यथार्थ ज्ञान होगा, उतना ही अधिक असीम सत्यज्ञानकी प्राप्तिकी अभिलाषा बढ़ेगी और जब यह अनुभव होगा कि अभी बहुत कुछ जानना शेष है तो इस जिज्ञासाके साथ-साथ विनयकी भी अभिवृद्धि होगी।

यहाँतक तो भौतिक दृष्टिकोणसे विचार किया गया। परंतु हमको यह तो मानना ही चाहिये कि सत्य-ज्ञान सांसारिक विषयोंके ज्ञानमें निहित नहीं है। जिससे हमारे अंदर बड़प्पनका अभिमान आता है, आत्मश्लाघा बढ़ती है, उसका सत्यज्ञानके द्वारा प्राप्त होनेवाले विनयसे कोई मेल नहीं मिलता। अतएव 'सत्यज्ञान क्या है'—इसकी जिज्ञासा होती है इसके लिये भी हमें वेदोंसे आदेश प्राप्त होते हैं—

'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा अपरा च।
यथाक्षरमधिगम्यते सैव परा॥'

विद्या दो प्रकारकी होती है परा और अपरा। परा विद्यासे अक्षरब्रह्म अर्थात् नित्य तत्त्वकी प्राप्ति होती है। और अपरा विद्या (जिसमें वेदाध्ययन भी निहित है) इसमें सहायक नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्णने भी उद्धवजीसे कहा है—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥

(श्रीमद्भा० ११।११।१८)

'यदि कोई आदमी शब्दब्रह्म अर्थात् वेदाध्ययनमें निष्णात हो परंतु परब्रह्मकी सच्ची भक्ति उसे प्राप्त न हुई हो तो बिसुकी हुई गायकी रक्षा करनेके समान केवल श्रम ही उसके हाथ लगता है।' अतः सद्विद्या हमको ब्रह्म-ज्ञान प्रदान करती है। और इस ब्रह्मज्ञान अर्थात् आत्मानुभूतिसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि सारे भौतिक ज्ञान, ऐश्वर्य और सौन्दर्य तथा ठाट-बाटकी सामग्री व्यर्थ है, फलतः हमारा अभिमान चूर हो जाता है और हम वास्तविक नम्र तथा विनयी बन जाते हैं।

इसके विपरीत जो पराविद्याकी प्राप्ति नहीं करते, तथा अक्षरतत्त्वकी अनुभूतिसे वञ्चित रहते हैं; उनके विनीत होनेकी आशा नहीं की जा सकती। वे कृपण कहलाते हैं, क्योंकि वे सद्विद्याके सत्प्रभावसे वञ्चित होते हैं। जैसे बृहदारण्यक (३।८।१०) में लिखा है—

'य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः, यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।'

उत्तरार्द्धमें यथार्थ ब्राह्मणका उल्लेख नहीं किया गया है, जिसको सद्विद्याका फल प्राप्त होता है। यहाँ यथार्थ ब्राह्मण शब्दसे आधुनिक ब्राह्मणका भ्रम नहीं होना चाहिये, जो सांसारिक ज्ञानके साथ-साथ केवल जन्मके आधारपर अपनी श्रेष्ठताका दावा करते हैं; और अनन्य भगवद्भक्तिके द्वारा अपने भीतरी सद्गुणोंका विकास नहीं करते।

आजकलके सभ्य समाजमें जो नम्रता या आपात विनय दीख पड़ता है, वह केवल सौजन्य प्रदर्शन मात्र है, तथा एक प्रकारका दम्भ है। इसमें आत्म-श्लाघाकी भावना छिपी रहती है, बल्कि नम्र होनेकी प्रशंसा प्राप्त करना अथवा दूसरोंसे, जो अपनेसे उच्च अधिकारपर आरूढ़ हैं, अभिलषित वस्तु प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षा भी इसके पीछे काम करती है। यह सच्चा विनय नहीं है, बनावटी है; क्योंकि इस नम्रतामें अपनेको औरोंकी अपेक्षा बड़ा समझनेकी भावना लुप्त नहीं होती। इसका कारण यह है कि हम ब्रह्मानुभूतिसे बहुत दूर रहते हैं।

इस विषयपर हम यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं करना चाहते; क्योंकि हमारे पूर्वलेख 'तृणादपि सुनीचेन' में इसका उल्लेख हो चुका है। अब हम विद्याके परिणामपर विचार करेंगे, जैसा कि साधारणतः लोग समझते हैं। वेद तथा दर्शन, तर्कशास्त्र आदि विषयोंके पल्लवग्राही पण्डित एक दूसरेके ऊपर अपनी धाक जमानेकी चिन्तामें रहते हैं, और जिसको अपनेसे अल्पश्रुत तथा निम्नकोटिका पाते हैं; उसके साथ बहुत औद्धत्यका व्यवहार करते हैं। इन पण्डितम्मन्य लोगोंका शास्त्रार्थ कभी-कभी हाथा-पाईमें परिणत हो जाता है। कुछ लोग महान् विद्वान्के रूपमें प्रसिद्ध होते हैं; परंतु उनकी विद्वत्ता कभी उनको विनयी नहीं बनाती। जो लोग ब्रह्मानुभूति या आत्मानुभूतिमें नहीं लगे हैं; उनको केवल विद्याके द्वारा सच्ची नम्रता नहीं प्राप्त हो सकती।

आधुनिक युगमें स्कूलों और कालेजोंकी पढ़ाईने परिस्थितिको और भी खराब बना दिया है। विद्याका घमंड जो अबतक अधिकांशमें लुप्त था, आजकल नग्न नृत्य कर रहा है। विद्वानों और विद्यार्थियोंमें आत्मसंयमका अभाव हो रहा है। कॉलेज और विश्वविद्यालयोंके प्राध्यापकोंके बीच झगड़े-फसाद आये दिन होते ही रहते हैं। तथा विद्यार्थियोंका अपने अध्यापकोंके विरुद्ध हिंसा-प्रदर्शन इतना बढ़ गया है कि उसकी गणना नहीं की जा सकती। और 'विद्या ददाति विनयम्'—यह सूक्ति गलत पड़ रही है, इससे अशिक्षितोंको, अपने प्रतियोगियोंके इस दावेपर कि वे समाजके संस्कारी लोग हैं, हँसनेका मौका मिल गया है।

परंतु जहाँतक सद्विद्याका सम्बन्ध है, यह सूक्ति बिल्कुल सही उतरती है, इस बातको हम कुछ दृष्टान्तोंद्वारा स्पष्ट करेंगे। श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके सुप्रसिद्ध अनुयायी श्रीवृन्दावनके षट् गोस्वामियोंकी अगाध विद्वत्ताका महान्

यश जब चारों ओर फैल गया कि उन्होंने बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं जो पाण्डित्यकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए हैं, भक्ति-साहित्य, दर्शन और भक्ति-विज्ञानमें प्राचीन काल तथा आधुनिक युगके सुप्रसिद्ध ग्रन्थकारोंकी अपेक्षा गुण और उत्कर्षकी दृष्टिसे कदापि न्यून नहीं हैं; तब एक अहम्मन्य पण्डित श्रीरूप गोस्वामीके पास आकर अपनी पण्डिताई प्रदर्शित करनेके उद्देश्यसे, उनको शास्त्रार्थके लिये ललकारा। गोस्वामीजीने विवादमें न पड़कर उसके सामने अपनी हेठी स्वीकार कर ली, और इसका प्रमाणपत्र लिखकर उसे दे दिया। उसके बाद वह पण्डित बड़े भाई श्रीसनातन गोस्वामीके पास इसी उद्देश्यसे गया। उन्होंने भी वैसा ही किया। भक्तितत्त्वके अगाध पाण्डित्यसे उनको सद्विवेककी प्राप्ति हुई थी, जिससे वे वास्तविक विनयी बन गये थे, और प्रत्येक मनुष्यसे अपनेको हीन समझते थे, अतः शास्त्रार्थ करनेके लिये तैयार न हुए।

तब उस पण्डितने उनके भतीजे श्रीजीवगोस्वामीको ललकारा। और वे भी तदनुसार उसको अपनेसे बड़ा पण्डित माननेके लिये तैयार हो गये। परंतु उस शास्त्रार्थीने हृष्ट होकर जब उनके पितृव्यद्वयका पराजित होनेका प्रमाणपत्र दिखलाया तो वे सँभल गये और उसके साथ शास्त्रार्थ करके उसको पराजित कर दिया। इसमें जीवगोस्वामीपादकी स्वाभाविक विनयशीलतामें संदेह करनेका कोई हेतु नहीं है। वे अपने चाचाके समान ही नम्र थे और शास्त्रार्थी पण्डितको विजयका प्रमाणपत्र देनेहीवाले थे। परंतु जब उस पण्डितने अभिमानपूर्वक उनके गुरु श्रीरूप-सनातनका प्रमाणपत्र पेश किया तो उसको अपने विजयकी डफली बजाने देना उनको पसंद न आया। सच्चा भक्त अपने आचार्यको प्रभुरूप मानता है, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण-ने स्वयं अपने श्रीमुखसे उद्धवजीसे कहा है—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

(श्रीमद्भा० ११। १७। २७)

'आचार्यको मेरा ही स्वरूप जानो, कभी उनका अनादर न करो। उनको मर्त्य समझकर लघु न समझो, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है।' सच्चे शिष्यके लिये कोई आदमी उसके अध्यात्मपथप्रदर्शक गुरुके बराबर या बढ़कर नहीं होता। इसलिये अपने गुरुको किसी आदमीसे छोटा मानना उसके लिये सिद्धान्तकी हत्या है, चाहे वह औरोंके द्वारा कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न माना जाता हो। इसलिये जीव गोस्वामीके पास अब कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया था, जिसके द्वारा वे अपने आध्यात्मिक गुरु श्रीरूप-सनातनके ऊपर उस शास्त्रार्थी पण्डितकी श्रेष्ठताके दावेका खण्डन करते। उन्होंने शास्त्रार्थीसे कह दिया कि जबतक वह उनके अयोग्य शिष्य (जीव गोस्वामी) को नहीं जीत लेता, तबतक उसको अपने विजयकी तुरही बजानेका कोई हक नहीं है। यदि वहाँ उनके और पण्डितके बीचके शास्त्रार्थका प्रश्न होता तो वे अपनी महत्ता स्थापित करनेकी चेष्टा नहीं करते। ऐसी स्थितिमें हम उनको अपने पितृव्य-द्वयकी अपेक्षा कम विनीत नहीं कह सकते। कुछ समालोचक उनमें समुचित विनयके अभावका आरोप करते हैं, और इस प्रकार महान् वैष्णवापराधके भागी होते हैं (क्योंकि सच्चे भक्तकी आत्माका निरादर करते हैं)। वे नहीं समझते कि इस स्थलमें उपेक्षा करना एक प्रकारका गुर्ववज्ञापराधका द्योतक है, क्योंकि वैसा करनेपर सच्चे भक्त गुरुकी महिमाकी रक्षा करनेमें जिस सदुत्साहकी आवश्यकता है, उसकी उपेक्षा हो जाती है।

श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है—

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥

(१०। ७४। ४०)

'भगवान् या उनके भक्तकी निन्दा सुनकर, विरोध-स्वरूप जो उस स्थानसे हट नहीं जाता, वह अपने सारे सत्कर्मोंसे च्युत होकर अधोगतिको प्राप्त होता है।'

यहाँतक हमने यह देखा कि सद्विद्या, जो हमको वास्तविक नम्रता प्रदान करती है, वह सद्भक्तिके सिवा और कुछ नहीं है। श्रीमद्भागवतमें इस सद्भक्तिकी शिक्षा प्राप्त होती है, तथा इस शिक्षाकी व्याख्या करनेवाली पुस्तकोंमें भी प्राप्त होती है।

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥
(श्रीमद्भा० १२। १३। १८)

'श्रीमद्भागवतपुराण दोषरहित है, वैष्णवोंका प्रिय ग्रन्थ है, जिसमें अद्वितीय, विशुद्ध परम परमात्मज्ञानका गान किया गया है। उसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति-युक्त निष्काम पथका आविष्कार हुआ है। इस ग्रन्थको जो मनुष्य भक्तिपूर्वक सुनता है, पाठ करता है, इसके विचारसे रत रहता है, वह मुक्त हो जाता है।'

इस प्रकार जो भागवत-पथके पथिक हैं, वे वास्तविक नम्र और विनयी हैं। एक सूक्ति है कि 'विद्या भागवतावधिः' और यह नितान्त सत्य है। भागवत हमको भक्तिभावनामें दीक्षित करता है, अतएव जो शिक्षा इसके माध्यमसे नहीं प्राप्त होती, वह सत्-शिक्षा नहीं है। इस ग्रन्थरत्नमें तथा उन ग्रन्थोंमें जो इसकी व्याख्या करते हैं, ज्ञानकी पराकाष्ठा प्राप्त होती है। वैसी ही एक दूसरी सूक्ति है—'विद्यावतां भागवते परीक्षा।'

यथार्थ विद्वान्की परीक्षा इसीमें है कि सद्भक्तके चरणोंमें बैठकर उसने कहाँतक भागवतका अध्ययन किया है। यदि भागवतका अध्ययन किसी भक्तके संरक्षणमें नहीं हुआ, और वह व्याकरण, छन्द, अलङ्कारादि साहित्यिक पहलूतक ही सीमित रहा तो उससे कोई सत्य परिणाम न निकलेगा। श्रीश्रीमहाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेवने देवानन्द पण्डितकी कड़ी आलोचना की थी; क्योंकि वह छात्रोंको श्रीमद्भागवत साहित्य-ग्रन्थ-की भाँति पढ़ाते थे, तथा जो भागवतकी मुख्य शिक्षा अर्थात् भक्तिको न समझते थे और न छात्रोंको समझाते थे, एवं जो इतने अहङ्कारी थे कि श्रीवासपण्डित-जैसे उन महाविद्वान् और भक्तको भी तिरस्कृत कर दिया, जो श्रीवासपण्डित उनका भागवत-पाठ सुनने आये थे और एक ही श्लोक सुनकर समाधिस्थ हो गये थे। यही नहीं, अपने छात्रोंके द्वारा जिनको निरादर-पूर्वक वहाँसे निकलवा दिया था। उनके आन्तरिक भक्त श्रीस्वरूप गोस्वामीने भी एक भक्तके साथ ही श्रीमद्भागवत पढ़नेके लिये कहा था। जिसके बिना भागवतकी स्कूली पढ़ाईसे वास्तविक लाभ अर्थात् भक्ति-की प्राप्ति नहीं हो सकती। भागवतको भी श्रद्धापूर्वक किसी भक्त गुरुकी संनिधि ग्रहण किये बिना पढ़नेसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो लोग समझते हैं कि गुरु आवश्यक नहीं हैं; क्योंकि वे बिना किसीकी सहायताके शास्त्रोंका अर्थ स्वयं ही समझ लेते हैं, वे 'गुर्वपराधी' हैं। उनकी सद्विद्याकी प्राप्तिका अवसर सदाके लिये चूक जाता है। श्रुति कहती है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

केवल वही वेदोंकी सत्-शिक्षाको प्राप्त कर सकता है, जिसकी देवतामें तथा गुरुमें समानरूपसे पराभक्ति है। बिना गुरुभक्तिके कोई भगवद्भक्त नहीं बन सकता।

इस प्रकार जो विद्या विनय प्रदान करती है, वही सद्विद्या है। छान्दोग्य श्रुति भी इस विद्याका जो सेवन करते हैं उन्हींके विषयमें यह सूक्ति अक्षरशः सत्य है कि 'विद्या ददाति विनयम्।'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

वे कौन थे ?

कुछ महीनों पहलेकी घटना है। मेरे पिताजीकी उम्र लगभग ५५ वर्षकी है। वे दोहाद (गुजरात)में थे। एक दिन अकस्मात् हृद्रोग तथा उष्णताकी शिकायत बढ़नेसे वे भयानक बीमारीके चंगुलमें फँस गये। मल-मूत्रके द्वार रुक गये। पेट फूल गया। नलिकाके द्वारा बड़ी कठिनतासे पेशाब करवाया जाता था। लगभग बीस दिन लगातार इसी अवस्थामें बीत गये। अन्न-पानी सब बंद था। बोलना-चलना बंद। बिल्कुल अवसन्न चारपाईपर लेटे रहते थे। बड़े-बड़े डाक्टर-हकीमोंका इलाज हुआ। करीब बारह-तेरह सौ रुपये खर्च हो गये। पर कोई अन्तर नहीं पड़ा। डाक्टर-हकीमोंने आखिरी राय दे दी कि रोगी किसी हालतमें बच नहीं सकता और उन्होंने अपने हाथ टेक दिये। घरमें सबकी राय हुई, अब व्यर्थमें दवा क्यों करायी जाय। दवा बंद कर दी गयी। हमारी आँखें गङ्गा-यमुनाकी धार बनी हुई थीं। कोई उपाय हाथमें नहीं रहा। तब केवल दीनदयाल ईश्वरपर भरोसा करके हम पाँचों भाई श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ करने लगे। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें कातर भावसे रामधुन करते। यों हमें ३०-३२ घंटे बीत गये।

इसी बीच अकस्मात् किसी एक महात्माने आकर हमारे दुःखका कारण पूछा। हमने सारी दुःख-दर्दकी कथा महात्माको सुना दी। महात्माने एक पुड़िया फाँकनेकी दवा दी और कहा कि 'इससे तुम्हारे पिता अच्छे हो जायँगे।' हमें महात्माकी बातपर विश्वास नहीं था। जहाँ बड़े-बड़े डाक्टर कुछ नहीं कर सके, वहाँ इस पुड़ियासे क्या होना है। हमें विश्वास तो पूरा नहीं हुआ। पर और कोई उपाय था नहीं, हमने पुड़िया दे दी। आश्चर्यचकित हो गये सब-के-सब जब कि पुड़िया देनेके करीब एक घंटे बाद ही पिताजीकी आँखें खुल गयीं। मुँह भी खुला। मल-मूत्रके द्वार भी खुल गये। और पेट भी हल्का हो गया।

सब घरके लोग, रिश्तेदार, डाक्टर सभी दंग रह गये। देह-त्यागके लिये तैयार पिताजी डेढ़ घंटेमें ही पूर्ण स्वस्थ होकर खड़े हो गये। शरीरमें कमजोरी अवश्य थी, पर उन्होंने नया जीवन पाया।

यह कितना बड़ा आश्चर्य था। महात्माकी खोज की गयी; परंतु वे आजतक नहीं मिले। वे कौन थे, महात्मा ? भगवान् ? गीता माता ? या रामनाम ?

—बंशीलाल एम्० अग्रवाल बी० ए०

(२)

विश्वासका फल

घटना मार्च १९१५ की है। मैं प्रयागमें इन्ट्रेंस दर्जामें पढ़ता था। गवर्नमेंट हाई स्कूलमें हम परीक्षा देनेको गये। उस समय इन्ट्रेंस परीक्षामें १२ पर्चे होते थे। प्रायः परीक्षा सोमवारको प्रारम्भ होकर शनिवारको समाप्त हो जाती थी। प्रत्येक दिन दो पर्चे होते थे। पहला पर्चा १० बजेसे १ बजेतक और एक घंटाके विश्रामके बाद २ बजेसे ५ बजेतक दूसरा पर्चा होता था। इस तरह ६ दिनमें बारह पर्चा हो जाते थे। आजकलकी तरह परीक्षाका समय शैतानकी लंबी आँतकी तरह महीनों नहीं चलता था। आजकल गरीब विद्यार्थियोंके लिये बड़ी कठिनाई है कि वे मुश्किलसे जाकर शहरोंमें जहाँ परीक्षा होती है, काफी दिनोंतक वहाँ अपना डेरा जमाये पड़े रहें। इस महँगाईके जमानेमें काफी दिन अपने घरसे बाहर पड़े रहना बड़ी परेशानी और दिक्कतका काम है।

परीक्षाका दूसरा दिन था। पहला पर्चा हो चुका था। विद्यार्थी उत्कण्ठावश दूसरे विद्यार्थियोंसे अपने उत्तरोंका मिलान करते थे। इससे उन्हें

बड़ी मनस्तुष्टि और संतोष होता था। मेरी सीटके पीछे एक मुसल्मान विद्यार्थी बैठा था—वह अपने उत्तरोंके साथ मेरे उत्तरोंको मिलान कर रहा था। वह मेरे बिल्कुल सन्निकट था। उसने एक जमुहाई ली। उसके मुँहसे बड़ी दुर्गन्धि निकली और परिणामस्वरूप मुझे कै (वमन) हो गयी। मेरे सिरमें चक्कर आने लगा। दर्द भी पैदा हो गया। परीक्षाहाल-की निगरानी करनेवालोंने तुरंत भंगीको बुलाया और उसे साफ कराया। मैंने खूब अच्छी तरहसे हाथ-मुँह धोया—गुलाबका फूल भी सूँघा, परंतु मेरी तबियत ठीक न हुई। उसी हालतमें मैंने दूसरा पर्चा भी किया। वह पर्चा शायद संस्कृतका था—मेरा वह पर्चा बिगड़ गया। मैं उसे पूरा कर सीधे अपने घर चला आया। मेरा मन बार-बार यही कहता था कि तुम्हारी सफलता संदेहात्मक है। मेरे मकानमें तीन और विद्यार्थी रहते थे। उन्होंने उन पर्चोंके उत्तरोंके बाबत पूछताछ शुरू की—मैंने इधर-उधरकी बातें कर उनसे अपना पिण्ड छुड़ाया, मेरा पेटा यद्यपि डोल गया था; परंतु मैंने अपनी मुखमुद्रा सदैव प्रसन्न रक्खी—ताकि वे मेरी कमजोरी भाप न सकें।

परीक्षा समाप्त हो गयी। हमारे मकानके तीनों सह-पाठी घर जानेको तैयार हुए—उनमेंसे दो हमारी बस्ती-हीके थे। ऐन मौकेपर मैंने उनसे घर न चलनेके लिये कहा—कारण पूछनेपर मैंने उनसे 'चित्रकूट' दर्शन करनेको कहा—वे लोग चले आये—मैं दूसरे दिन अपना सामान प्रयागके एक परिचित व्यक्तिके यहाँ रख-कर धोती, दरी, लोटा और चद्दर लेकर चित्रकूट-दर्शन करनेके लिये चल दिया। मेरे पास खर्च बहुत मामूली था। मैं इलाहाबादसे मानिकपुर आया। मानिकपुर स्टेशनपर ज्यों ही मैं गाड़ीसे उतरा, त्यों ही हमारे जिले (फतेहपुर) के असनी गाँवके पं० शिवानन्द त्रिवेदी वकीलके लड़के प्लेटफार्मपर मिल गये—वे यहाँ असिस्टैंट स्टेशन-मास्टर थे। वकील साहब फतेहपुरमें वकालत करते थे और साधु-संतोंकी खूब सेवा और सत्सङ्ग करते थे। वे मुझे बहुत प्यार करते थे। अपने पुत्रकी तरह मेरे ऊपर उनकी वात्सल्य-भावना थी। त्रिवेदीजीने बड़े जोरसे चिल्लाकर कहा कि 'अरे भाई! तुम यहाँ कैसे?' मैंने भी उनसे उसी लहजेमें पूछा—'भाई! तुम यहाँ कैसे?' उन्होंने कहा—'मैं यहाँ असिस्टैंट स्टेशन-मास्टर हूँ।' मैंने कहा कि 'मैं चित्रकूट-दर्शन करने जा रहा हूँ।' वे मुझे अपने क्वार्टर ले गये। उन्होंने मुझे बड़े आदर और सत्कारसे रक्खा। मानिकपुरसे बाँदा जानेवाली गाड़ीके रास्तेमें करवी और चित्रकूट पड़ता है। मैंने मानिकपुरसे करवी पैदल चलना निश्चय किया। परंतु इस बातको त्रिवेदीजीसे नहीं कहा। उनसे विदा होकर मैं चित्रकूटके लिये चल दिया। रास्ता सीधा था। पक्की सड़क मानिकपुरसे करवी होती हुई चित्रकूट जाती है। मैं शामके करीब करवी आया, बाजारमें हमारी विन्दकीके बाबू राधावल्लभजी अग्रवाल मिल गये। वह यहाँ करवीमें मिर्जापुरके भारामल फतेहचन्द्र फर्ममें मुनीम थे। हमारे पिता और हमारे पिताके मामासे उनका घनिष्ठ स्नेह था। वे मुझे अपनी दूकान ले गये। भोजन करके मैं सो गया।

सबेरा हुआ—शौचसे निवृत्त होकर मैंने उनसे चित्रकूट जानेकी आज्ञा माँगी। उन्होंने मेरे साथ दूकानका एक पल्लेदार कर दिया कि वह मुझे रास्ता बता आये। मैंने उससे रास्ता पूछकर उसे विदा किया। चित्रकूट करवी-से तीन-चार मीलसे ज्यादा नहीं है। वहाँ पहुँचकर छबिकिशोरके मन्दिरमें मैंने डेरा डाला। हमारे पासके घोरहा ग्रामनिवासी पं० वंशीधर मुरलीधर दो भाई थे। वे अच्छे ज्योतिषी थे। वे प्रायः हर साल चित्रकूट जाते थे। वे नयागाँव जागीरदारके यहाँ जाया करते थे। यह नयागाँव पैसुरनी नदीके किनारे बसा है जो चित्रकूटमें ही है। इन्हींका छबिकिशोरजीका मन्दिर है। उपर्युक्त पण्डितजीने हमसे छबिकिशोरजीके बाबत कहा था। चित्रकूट मैं पहले-पहल गया था। मेरा वहाँ

कोई परिचितका व्यक्ति नहीं था। भगवान्‌की गोदमें अपनेको सौंपकर मैं निष्कण्टकभावसे यहीं ठहर गया। मैं दूसरे दिन प्रात:काल उठकर शौच-कुल्ला करके कामतानाथजीके दर्शनको निकला। मेरी मातामही बड़ी दयालु और भक्त—स्वभावकी थीं। उनका अधिकांश समय पूजा-पाठमें बीतता था। मैं लड़कपन-से अपनी माँके पास न रहकर इन्हींके पास रहता था। अपने पिताको भैया कहता था और उन्हें भैया अम्मा कहता था। मैं उन्हींके साथ लेटता था, उन्हें तुलसी, सूर तथा मीराँके भजन और पद खूब याद थे। वे मुझे खूब सुनाया करती थीं। मीराँके पद वे बड़े भक्तिभावसे गाया करती थीं। उन्होंने मुझसे कई बार कहा था कि जो कोई चित्रकूटके कामदगिरिकी परिक्रमा और कामतानाथके दर्शन कर आता है, उसके सब मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं, सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। जिस दिन मेरा पर्चा खराब हुआ था, उसी दिन मैंने रिजल्ट निकलनेके पहले कामदगिरिकी परिक्रमा करने और कामतानाथजी-के दर्शन करनेका संकल्प कर लिया था। उसकी पूर्ति करके मैंने साधु-महन्तोंके दर्शन किये। यद्यपि वैरागी साधुओंमें मैंने न तो उच्चस्तरकी साधना देखी और न प्रकाण्ड पाण्डित्य। उनमें धर्मका बहिरङ्ग रूप ही देखा। यह भी सम्भव है कि मुझे अच्छे महात्माओंके दर्शन न हुए हों। दोपहरको मैं दर्शन करके और परिक्रमा करके छबिकिशोरके मन्दिरमें आ गया। वहाँ एक वैश्य महोदय श्रीमद्भागवतकी कथा सुन रहे थे। मैं भी सुनने लगा। जब कथाका विश्राम हुआ तो कथा बाँचनेवाले पण्डितजी मेरे पास आये और मुझसे भोजन करनेके लिये बड़ा आग्रह किया। मैंने उनके अनुरोधको अस्वीकार किया, तब सेठजी आये। उन्होंने मुझे कुछ-न-कुछ खानेका अनुरोध किया। थोड़ी मिठाई खायी और वहीं छबिकिशोरके मन्दिरमें सो गया। सुबह उठकर पण्डितजीको प्रणाम कर करवीके लिये प्रस्थान किया। चलते समय मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न था—

मन प्रसन्न तनु तेज बिराजा। कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा॥

—की याद हो आयी। शामको करवी आया। दूसरे दिन मेरे यहाँके सेठजीने मुझसे कहा कि लगे हाथ राजापुर भी हो आओ और उधरसे भरवारी स्टेशनपर चढ़कर अपने घर चले जाना। यह बात मुझे पसंद आ गयी। उन्होंने राजापुरकी बैलगाड़ीमें मुझे बैठा दिया। ये गाड़ियाँ राजापुरसे अनाज बेचनेके लिये करवी आती थीं। मैं राजापुर आकर पं० गंगाप्रसादजीके वहाँ ठहर गया। उपर्युक्त पण्डितजी बिन्दकीके पास गँगरावल गाँवके निवासी थे और बिन्दकीमें प्राइमरी स्कूलमें मुझे पढ़ाया था। पण्डितजी हमारे मकानके सामने वैद्य बाबाके कमरेमें रहते थे। वे बड़े साधु स्वभावके पुरुष थे। उनके यहाँ ठहरा। संकटमोचन और तुलसीदासजीके मन्दिरके दर्शन किये। उनका हस्त-लिखित अयोध्याकाण्ड भी देखा। दूसरे दिन शौचसे निवृत्त होकर जलपान कर भरवारीके लिये चल दिया। टेंटमें पैसे थोड़े थे। शायद भरवारीसे बिन्दकीरोडतक रेलकिराया और स्टेशन बिन्दकीरोडसे बिन्दकीतकका इक्का किराया। निदान राजापुरसे भरवारीतक पैदल यात्रा किया। भरवारीमें रेलमें बैठा और इस तरह बिन्दकीरोड स्टेशनमें उतरकर इक्कासे अपने घर आया।

ज्यों-ज्यों नतीजा आनेके दिन नजदीक आने लगे, मैं कुछ सशंकित होने लगा। मेरे दोनों मित्र, जिन्होंने मेरे साथ परीक्षा दी थी, मेरे पास आते और 'गजट' आनेके बाबत पूछते थे। बिन्दकीमें सरकारी पत्र, जिसमें इन्ट्रेंसका नतीजा छपता था, हिन्दी मिडिल-स्कूलमें आता है। एक रोज वे दोनों मित्र मेरे पास आये और गजट देखनेका आग्रह करने लगे। मैंने उनसे गजट देख आने और परिणामसे अवगत करानेकी प्रार्थना की। उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। थोड़ी देरके बाद मेरे दोनों साथी नतीजा माळूम कर वापस आये। उनमें-से एकका मुख म्लान था, दूसरेका प्रसन्न। मैं समझ

गया कि म्लान मुखवाले सहपाठी 'फेल' हैं और प्रसन्न मुखवाले साथी 'पास' हैं। उन्होंने मुझसे कहा कि 'तुम पास हो गये हो।' मैंने अपनी प्रसन्नताके भाव रोककर फेल होनेवाले साथीको सान्त्वना दी और इस तरह मेरी परीक्षाकी बात समाप्त हुई। मुझे तो ऐसा मालूम हुआ कि कोई महान् शक्ति योगक्षेमकी व्यवस्था मेरे लिये किये हुए है। घर आकर मैंने अपनी दादीसे चित्रकूट-दर्शन और कामदगिरिकी परिक्रमा करनेकी बात सुनायी थी तब उन्होंने तत्क्षण ही यह कह दिया था कि 'बच्चा! तू पास है।' आज नतीजा देखकर निश्चितरूपसे मैंने उनसे कहा—'अजिया, तुम्हारे आशीर्वादसे मैं पास हो गया।' उन्होंने कहा—'नहीं बेटा! कामतानाथने तुझे पास किया।' मैंने उनकी प्रेम-पूरित वाणीको सुना और भगवान्‌की जय-जय कर मैं अपने काममें लग गया।

—पं० चन्द्रिकाप्रसाद वाजपेयी

(३)

सेवा-मूर्ति

लगभग आठ मासकी बात है। फ्ल्यूका प्रकोप सम्पूर्ण देशमें व्याप्त हो चुका था। उसी समय मैं रामायणपर प्रवचन करनेके हेतु नवरोजाबाद गया। वहाँ जाते ही इन्फ्ल्युएंजाने मुझे भी अपने चंगुलमें धर दबाया। मैं अशक्त हो गया। सर्वत्र निराशा दीखने लगी। वहाँ किसीसे मैं परिचित भी नहीं था। अकेला ही था, इसीसे विशेष घबरा गया। पासमें विशेष पैसे भी नहीं थे, जिससे कि घर ही किसी प्रकार जा सकूँ। बहुत बड़े चक्करमें पड़ गया। उसी समय वर्षा भी होने लगी। ऐसी विपत्तिमें कोई बात पूछनेवाला भी नहीं दिखायी पड़ रह था। तीन बज रहे थे। बुखार जोरोंसे चढ़ा था। जिस मन्दिरमें रुका था, वह भी वर्षाके आघातको सहन करनेमें असमर्थ था। ऐसी स्थितिमें मैं श्रीरामायणकी चौपाईको धीरे-धीरे पढ़ने लगा।

उसी समय एक बुढ़िया माई मेरे पास आयी और बिना कुछ कहे-सुने ही मेरा लाउड स्पीकर, हारमोनियम और सारा सामान उठा लिया और बोली 'बाबा चलो।' मैं भी बिना किसी हिचकिचाहटके लड़खड़ाते हुए चल पड़ा। वहाँ जाकर मैं लेट गया। मुझे नींद आ गयी। पाँच बजे उठा तो देखा कि बुढ़िया भींगी हुई मेरे चारपाईके पास बैठी रो रही है। मैंने पानी माँगा। बुढ़ियाने पानी देते हुए कहा—'बेटा! तू जल्दीसे अच्छा हो जा।' इतना कहकर उसने 'एस्प्रो'की दो टिकिया मुझे पानीके साथ खिला दी। मुझे कुछ आराम मालूम पड़ा। रात्रिमें बिना कुछ खाये ही मैं सो गया। जब दो बजे रात नींद खुली तो देखा, बुढ़िया बैठी है। उसकी आँखोंसे प्रेमाश्रु ढल रहे हैं। मैंने कहा 'माँ! तू बैठकर रोती क्यों है।' बुढ़ियाने आँसू पोंछते हुए कहा 'बेटा! सो जा, कुछ नहीं। मैं सो रही थी, अभी तो आयी हूँ।' बेचारी, इस प्रकार प्यार करती, मुझे चाय बनाकर पिलाती और सेवा करती। वैसे यह बीमारी तीन दिनोंके पहले नहीं समाप्त होती, पर मैं दो ही दिनोंमें पूर्ण स्वस्थ हो गया। स्वस्थ होनेपर कथा हुई। लोग अपने यहाँ भोजनके लिये आमन्त्रित करते, अच्छा स्थान भी रहनेके लिये देते। पर बुढ़ियाके वात्सल्य-भावको देखकर मैं कहीं नहीं गया। कथा समाप्त होनेपर दो सौ दक्षिणा-स्वरूप प्राप्त हुए। मैंने अपनी उस बुढ़िया माईके चरणोंमें ले जाकर इस पत्र-पुष्पको समर्पित कर दिया। आग्रह करनेपर बुढ़िया माईने कहा—'बेटा! मेरा ऐसे भाग्य कहाँ, जो मैं सेवा कर सकूँ। मैं अपनेको धन्य समझती हूँ कि तूने मेरी सेवा स्वीकार की। बेटा! मेरी दक्षिणा तो यही होगी कि हमेशा तू इस अभागिन माँकी सेवा स्वीकार करता रह।' बुढ़िया माईकी इस स्नेहभरी वाणीको श्रवणकर मैं आनन्दविभोर हो गया। उसके इस भावको देखकर हृदयमें श्रद्धाकी लहर उमड़ पड़ी। उसने २५) और देकर २००) वापस कर दिये।

आज भी जब मैं इस सेवा-मूर्तिका पवित्र स्मरण करता हूँ तो मेरे नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलछला आते हैं।

—कुमुदजी कथावाचक बी० ए०, सा० रत्न

(४)

भिखारिनके भेषमें पवित्र संस्कार-मूर्ति

अहमदाबादसे मैं भावनगर आ रहा था। शामका समय था। टिकट लेकर मैं गाड़ीमें बैठ गया। डिब्बेमें अबतक रोशनी नहीं हुई थी। चारों ओर मुसाफिरोंकी चहल-पहल, गाड़ीकी सीटीकी तीखी आवाज और इंजिनकी घरघराहटसे वातावरण कम्पायमान था।

मेरे सामने ही एक भाई रेशमी कपड़ोंसे सुसज्जित बैठे थे। व्यापारी-जैसे लगते थे। बहुत भीड़ थी। और गर्मी भी बहुत थी। पंखा चल नहीं रहा था। डिब्बेमें रोशनी भी नहीं थी। गाड़ी खुलनेमें कुछ देर थी। इसलिये वे भाई अपने पासकी दो थैलियोंको सीटपर रखकर ठंडी हवामें मन बहलानेके लिये नीचे उतर पड़े।

कुछ समय बाद गाड़ी खुलनेकी तैयारी होने लगी। डिब्बेमें रोशनी हो गयी। पंखे चलने लगे। वे सज्जन डिब्बेमें आ गये। परंतु देखा तो दोनों थैलियाँ गायब। इधर-उधर देखा, नजर दौड़ायी, परंतु थैलियाँ कहीं दिखायी न दीं। उनका चेहरा पीला पड़ गया। मुँहपर हवाइयाँ उड़ने लगीं। आँखें डबडबा आयीं। 'क्या हुआ? क्या हुआ?' की आवाज चारों ओरसे आने लगी। उन्होंने कहा—'उन थैलियोंमें मेरा दो हजार रुपयेका रेशमी कपड़ा था। मैं कपड़ेका व्यापार करता हूँ।' डिब्बेके सारे मुसाफिरोंने सब ओर ढूँढ़ा। सबने निराश होकर यही कहा—'अँधेरे और भीड़का लाभ उठाकर किसी चोर-उचक्केने हाथ मारा है।' वह व्यापारी बेचारे मन मसोसकर बैठ गये। उनकी आँखोंके सामने तितलियाँ उड़ने लगीं। गाड़ी चल दी।

परंतु जब धोलका स्टेशन आया, तब मानो एक चमत्कार हुआ। डिब्बेके बाहर कोई चिल्ला रहा था—किसीकी थैलियाँ खो गयी हैं, थैलियाँ?' आवाज सुनते ही वे सज्जन मानो नींदसे जग उठे हों—खड़े होकर जोरसे आवाज लगाकर उसे बुलाने लगे। दूसरे यात्री भी सजग हो गये। दरवाजा खोला तो देखा कि मैले और फटे-पुराने कपड़े पहने एक भिखारिन-जैसी स्त्री दोनों हाथोंमें थैलियाँ लिये खड़ी है।

उन सज्जनके मानो जान आ गयी, उन्होंने कहा—'ये दोनों मेरी ही थैलियाँ हैं। बहन! आपको कैसे मिलीं?'

स्त्रीने कहा—'क्षमा करना भाई, मेरा बेसमझ लड़का अहमदाबादके स्टेशनपर न जाने कहाँसे इनको ले आया। मैंने उसको बहुत पीटा और कहा कि मजदूरी करना, भीख माँगकर खाना, पर कभी भी चोरी मत करना। पिछले पापोंसे तो हमारी यह दशा हो रही है। अब फिर चोरी करेंगे तो अगले जन्ममें हमारी, पता नहीं, कैसी भयानक दुर्दशा होगी।'

व्यापारी फूला नहीं समाता था। वह अपनी जेबसे पाँच रुपयेका नोट निकालकर उस स्त्रीको देने लगा। स्त्रीने पहले तो इनकार किया और साफ-साफ ना कह दी, परंतु दूसरे यात्रियोंके आग्रहसे अन्तमें ले लिया।

हम सब इस प्रसंगको देखकर हैरान हो गये। भिखारिनके भेषमें छिपी भारतकी वह पवित्र संस्कार-मूर्ति अँधेरेमें अदृश्य हो गयी। हम उसकी मूक वन्दना करने लगे।

—रामशंकर ना० भट्ट

(५)

गरीबकी परोपकार-वृत्ति

गत आषाढ़ कृष्ण चतुर्थीकी बात है। मैं और सुखदेव ठाकुर तोबनसे साइकलद्वारा रामचन्द्रपुर जा रहे थे। मेरे पास दो मनीबेगोंमें पाँच हजार रुपये थे—एकमें तीन हजार और दूसरीमें दो हजार।

हम दोनों बड़ी तेजीसे साइकल चला रहे थे—रास्तेमें कहाँ क्या हुआ सो तो पता नहीं, रामचन्द्रपुर पहुँचकर जब मनीबेग निकालने लगे तो

तीन हजारवाली तो मिल गयी पर दो हजारवाली गायब थी। हमारे शरीरपर मानो बिजली-सी मार गयी। मुँह फीका पड़ गया। मनमें कई प्रकारके तूफान उठने लगे। यह निश्चय हो गया अब मनीबेग नहीं मिलेगी। फिर भी मैं साइकलसे उसी रास्तेसे लौटा, यद्यपि पैर भारी हो गये थे। साइकल चलायी नहीं जा रही थी, तथापि मैं आगे बढ़ता गया। इधर-उधर बड़ी तीखी नजरसे देखता लगभग दो माइलतक चला गया। इतनेमें सुनायी दिया—पीछेसे कोई आदमी पुकार रहा है और दौड़ा चला आ रहा है। मेरी रुकनेकी इच्छा नहीं थी, मन बहुत खराब था। पर मैं कुछ रुका, इतनेमें वह आदमी मेरे पास आ गया। फटे-मैले कपड़ेसे लाज ढक रक्खी थी उसने, बड़ा ही गरीब जान पड़ता था। उसके चिपके गाल, धँसी आँखें, निकली हुई दाँतें और चमकती हुई हड्डियाँ तथा नसें उसकी मूर्तिमान् दरिद्रता-के दर्शन करा रही थीं। उसने समीप आकर बड़े प्रेमसे मुझको नमस्कार किया और कहा—'बाबूजी! यह बैग आपहीकी है। मैंने दूरसे इसको आपकी जेबसे गिरते देखा था। मैंने इसे उठाया, इतनेमें आप बड़ी तेजीसे बहुत दूर निकल गये। मैंने आवाज दी, पर आप सुन नहीं पाये। आखिर मैं यह सोचकर यहीं बैठ गया कि बैग न मिलनेपर बाबूजीको बड़ा दुःख होगा और वे इसी रास्ते उसे खोजने आयेंगे, तब मैं उन्हें दे दूँगा। अब यह आपकी बैग सँभालिये।'

उस गरीबकी परोपकार-वृत्ति, ईमानदारी देखकर मैं गद्गद हो गया। मेरा मुरझाया हुआ मुखकमल खिल उठा। मेरा रोम-रोम उसके उपकारसे दब गया। मैंने पचीस रुपये कठिनतासे उसको दिये।

—नवरत्नमल नाहर

(६)

अमृतका प्रवाह

रामवदन और हरजीवन दोनों सगे भाई थे। खेती-का काम था। दोनोंमें बड़ा प्रेम था। पिता-माता छोटी अवस्थामें मर गये थे। अतएव बड़े भाई रामवदन और उसकी स्त्री कौसिल्याने ही हरजीवनको बड़े प्यारसे पाला-पोसा, उसका ब्याह किया। हरजीवनकी स्त्री गौरी घर आयी। वह कुछ ईर्ष्यालु तथा कड़े मिजाजकी थी। वह अपनी जेठानी तथा उसके दोनों बच्चे—रामू और पमियाके साथ रूखा व्यवहार करती। जेठानी कौसिल्या बड़े विशाल हृदयकी महिला थी। वह उसके रूखे व्यवहारको देखकर हँस देती और सदा सच्चे स्नेहका ही बर्ताव करती। उसके दोषोंको छिपाती। पतिके सामने उसकी जरा भी निन्दा नहीं करती। बल्कि उसके गुणोंकी प्रशंसा करती। पत्नीके व्यवहारसे हरजीवन-को दुःख तो बहुत होता, पर वह पत्नीकी नाराजीके भयसे कुछ बोलता नहीं। किंतु वह उसकी शिकायत भी नहीं सुनता। इससे वह और भी कुढ़ती। उसका दुर्व्यवहार बढ़ता गया। पर कौसिल्यापर और उसके कारण रामवदनपर वह कुछ भी असर नहीं डाल सका। वे गौरीको मानस रोगसे ग्रस्त समझकर उसकी भूलोंपर ध्यान नहीं देते और सदा उसपर कृपा तथा प्रीति ही करते।

एक दिन गौरी झुँझलायी हुई-सी रसोई बना रही थी। कौसिल्याका लड़का रामू भूखा था। निर्दोष बच्चेके मनमें कोई भेदभाव नहीं था। वह जैसा माँको समझता, वैसा ही चाचीको। हाँ, कभी-कभी चाचीकी डरावनी सूरत देखकर कुछ सहम-सा जरूर जाता। वह चाचीके पास रसोईमें आया और कुछ खानेको माँगने लगा। कौसिल्या दूसरे काममें लगी थी। घरपर पुरुषोंमें भी कोई नहीं था। गौरीने बच्चेको दुत्कार दिया और कहा—'चला जा, सीधा-सा यहाँसे, अपनी माँ आये तब खानेको माँगना। मुझसे चीं-चपड़ की तो जलती लकड़ीसे पीटूँगी।' एक बार कुछ बच्चा डरा तो सही, पर चार सालका भोला था, भूख लगी थी। वह समझा ही नहीं— चाची क्या कह रही है, और उसने फिर जरा

जोरसे चिल्लाकर रोटी माँगी। गौरी झुँझलायी हुई थी ही। जलती लकड़ी चूल्हेसे निकालकर फेंकी, लड़केके पैरपर लकड़ी गिरी। लड़का चिल्लाया, कौसिल्या दौड़ी आयी। देखा तो लड़केके पैरमें कुछ चोट लगी है और कुछ जल भी गया है। गौरीने गुस्सेमें आकर यह काण्ड कर तो दिया पर अब वह भी डर रही थी। कहीं हरजीवनको पता लग गया तो पता नहीं क्या हो जायगा; क्योंकि वह इन दिनों गौरीकी हरकतोंसे दुखी था। कई बार कह चुका था—'मैं घरसे निकल जाऊँगा या मर जाऊँगा।'

वह रामूके पास आकर उदास खड़ी थी, देख रही थी—जेठानी कौसिल्या क्या करती है। कौसिल्याने कहा—'बहिन, डर मत, यों भूल हो ही जाया करती है। लड़का कहीं दौड़ता हुआ गिर पड़ता तो चोट लगती या नहीं। यहाँ भी वैसे ही लग गयी।' फिर बच्चेसे कहा—'बेटा! जा, चाची तुझे लड्डू देगी और मैं अभी तेरा पैर धोकर पट्टी बाँध देती हूँ। तू रो मत। रामूने लड्डूके नामसे रोना बंद कर दिया। कौसिल्याने आलू पीसकर जलेपर बाँध दिये और चोटपर पट्टी लगा दी। गौरीका तो हृदय ही बदल गया। उसने सोचा—'मैंने आजतक दुर्व्यवहार करनेमें कोई कसर नहीं रक्खी। पर सहन करनेमें कौसिल्या मुझसे बहुत आगे बढ़ गयी। आज तो मेरे दुर्व्यवहारकी सीमा ही नहीं रही। इतनेपर भी कौसिल्याका यह सद्व्यवहार, यह शान्ति, और मेरे प्रति यह स्नेह! उसका हृदय द्रवित हो गया। आँखोंसे अनुताप और श्रद्धाके मिश्रित आँसू बह चले। वह दौड़कर लड्डू लायी और अपनी गोदमें बैठाकर बड़े प्यारसे रामूको खिलाने लगी।

इतनेमें दोनों भाई घर आ गये। उन्होंने रामूको गौरीकी गोदमें बैठे लड्डू खाते देखा तो वे चकित हो गये। गौरीने सलज्ज भावसे मुँह फिरा लिया। कौसिल्या बोली—'धूपके लिये अंगारे ला रही थी। रास्तेमें एक अंगारा गिर गया। रामू दौड़ा आ रहा था, अंगारा छूते ही चिल्लाकर गिर गया। जरा-सी चोट लग गयी और कुछ दाझ गया। गौरीने दौड़कर मरहम-पट्टी कर दी और अब बड़े स्नेहसे वह अपने बेटेको लड्डू खिला रही है।'

सचमुच रामू आज गौरीका लाड़ला बेटा हो गया। सब ओर प्रसन्नता छा गयी। कौसिल्याकी सहिष्णुता, स्नेह तथा सद्व्यवहारने घरमें सब ओर अमृतका प्रवाह बहा दिया।

—गोपाल अवस्थी

(७)

कर्जका भय

दो साल पहलेकी बात है। हीरालाल नामक एक किसान आया और मुझसे पूछने लगा—'तुम सागरमल-जीके लड़के हो क्या?' मेरे 'हाँ' कहनेपर वह सौ रुपये निकालकर देने लगा और बोला—'बहुत दिन हुए, मैं तुम्हारे पिताजीसे एक सौ रुपये उधार ले गया था। उस समय तुम बहुत छोटे थे। अबतक मैं वे रुपये नहीं लौटा सका। अब मेरे पास रुपये जुटे हैं तब लेकर ले आया हूँ।' मैं उसकी ओर देखता रह गया। तब उसने फिर कहा—'मैं तुम्हारे पैर पकड़ता हूँ। मुझे कर्जसे मुक्त कर दो। मैं ब्याज नहीं दे सकूँगा। किसी तरह बड़ी कठिनतासे रुपये इकट्ठे कर पाया हूँ। मुझे कर्जका बड़ा भय है बाबू!' यों कहकर वह बार-बार हाथ-पैर जोड़ने लगा।

मैंने सोचा कितना ईमानदार और कर्जसे डरनेवाला है यह बूढ़ा किसान। बड़े-बड़े लोग भी आज कानूनसे बचकर रुपये हजम कर जाते हैं। मैंने चाचाजीसे बिना पूछे ही रुपये ले लिये तथा उससे कह दिया—'तुम कर्जसे मुक्त हो गये।' वह प्रसन्न होकर चला गया।

ये रुपये लगभग पचीस वर्ष पहलेके थे। हमारे पास कोई भी हिसाब नहीं था। यहाँतक कि चाचाजी-को भी याद नहीं था।

किसानकी इस ईमानदारीको देखकर भगवान्‌से यही प्रार्थना की जाती है कि हम सबको भगवान् ऐसी ही सद्‌बुद्धि दें।

—हरीराम केडिया

(८)

नष्ट नीड

वह मुझे बहुत बुरा लग रहा था। टेबलपर कुर्सी रखकर मैंने उसे खैंचकर जमीनपर पटक दिया। कुछ पीला-सा द्रव पदार्थ और श्वेत-कण फर्शपर बिखर गये। अंदर बैठी चिड़िया चूँ-चूँ करती उड़ गयी। वह पंख फड़फड़ाती अपने नष्ट घोंसलेतक आती और पुनः लौट जाती। उसका यह क्रम बहुत समयतक चलता रहा।

किताब लेकर पढ़ने बैठा, पर काले शब्दोंके बीच मुझे यत्र-तत्र अनेक चिड़ियोंके छोटे-छोटे गुलाबकी पँखुड़ियों-से बच्चे दीख पड़े। मैंने पुस्तक पटक दी।

भोजन करने बैठा, पर मुझे दीखा—जैसे मेरी थालीमें दालके स्थानपर पीला-सा द्रव पदार्थ और रोटीके स्थानपर वही अंडोंके श्वेत कण परोसे गये हैं। मैं उठ गया।

बाहर आकर खुले आँगनमें घूमने लगा, पर दूर क्षितिजसे एकके बाद एक दैत्याकार श्वेत अण्डे आते और मेरे निकट आते-आते सूक्ष्म होकर फूट जाते। मेरी नजरोंमें वही पीला तरल पदार्थ और श्वेत कण तैरने लगे!

सोचा, बाहर घूम आऊँ। नदी-किनारे रेतमें बड़ी देर बैठा रहा, पर चिड़ियोंके लाख-लाख झुंड एक साथ आकर मेरे सामने करुण क्रन्दन करने लगे!

'ऊँह। ये सब क्या पागलपन है। मैं फिजूल जरा-सी बातको सोचकर इतना परेशान हो रहा हूँ। क्या हो गया। यह भी कोई उद्विग्न होनेवाली घटना है?' सोचकर मैंने सिरको हल्का-सा झटका दिया और उठ खड़ा हुआ।

घर आया तो पत्नीने बताया मुन्नेको तेज बुखार है। देखा, सचमुच बुखार तेज था।

—'दिनभर पानीसे खेलता रहता है। सर्दी लग गयी है। उतर जायगा।'

चार दिनतक बुखारकी हालतमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। डाक्टरको बुलाया तो बताया—'टाइफायड'

मुन्ना सुबहसे बेहोशीकी दशामें था। शरीरका तापमान १०४ से कम नहीं हो रहा था। दूधकी पट्टियाँ चढ़ानेके पश्चात् भी हालत चिन्तनीय हो गयी। हम दोनों ११ बजे राततक मुन्नाके बिस्तरके निकट बैठे रहे। मौन, शान्त! बहुत चाहनेपर भी मैं इस अशुभ विचारको हृदयसे नहीं निकाल सका कि प्रभुने मुझे अपने अपराधका फल दिया है। मैंने क्यों उस निरपराध चिड़ियोंके अंडोंको नष्ट किया और फिर वही क्रन्दन करती चिड़िया, तरल पीत द्रव, श्वेत कण, लाल-लाल मासूम बच्चे। विचारोंमें तल्लीन मैं सो गया।

रातके दो बजे थे मैं चीखकर उठ बैठा।

'नहीं, ऐसा मत करो। उसका कोई अपराध नहीं। भगवान्‌के लिये मुझपर दया करो। क्षमा कर दो मुझे।'

मैं रोया, गिड़गिड़ाया, प्रार्थना की, पर उस क्रूर विकराल दैत्यने मेरे मुन्नेकी टाँग पकड़कर जमीनपर पछाड़ दिया। वही कुछ पीला तरल पदार्थ और हड्डियों-के श्वेत कण मेरे सामने बिखर गये।

उफ! कितना बीभत्स स्वप्न था। मेरी साँस जोरोंसे चलने लगी। पत्नी जाग गयी थी। मुन्ना बेहोश था।

'क्या हुआ?'

'कुछ नहीं।' मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

'मुझे क्षमा कर दो प्रभो! मैंने यह सब जान-बूझकर नहीं किया था। इतना कठोर दण्ड न दो भगवन्! मैं सहन नहीं कर सकूँगा। मेरे बच्चेके प्राणोंकी भीख। इस बार मुझे निर्दोष समझकर दया कीजिये देव!'

मैं बच्चोंकी तरह फूट-फूटकर रो पड़ा और मेरी हिचकियाँ तब बंद हुईं जब मुन्नेने आँखें खोलकर क्षीण आवाजमें कहा 'पानी'।

घटना दो माह पूर्वकी है। मुन्ना पहलेसे अधिक स्वस्थ है। उस समयसे मैं हमेशा इसी प्रयत्नमें रहता हूँ कि मुझसे कभी कोई निरपराध जीवहिंसा न हो जाय।

बाबा तुलसीदासकी एक ही चौपाई हर समय हृदयपर एक प्रहार करती जान पड़ती है और मैं पुनः अपने स्थानपर आ जाता हूँ, पथभ्रष्ट होनेपर भी।

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

—मोहनलाल चतर

(९)

सहिष्णुता

जब कभी दिवाली आती है तो मेरे मानसमें एक विशेष प्रतिक्रिया होती है। सन् १९५३ में मेरे फूफाजी रामदेवरा स्टेशन (उत्तर रेलवे) पर सहायक स्टेशनमास्टर थे।

दिवालीके दूसरे दिन प्रायः बच्चोंको पटाके छोड़नेको मिलते हैं। हमें भी परम्परानुसार पटाके मिले। बच्चोंमें विचार-शक्ति तो होती नहीं। उनके लिये तो हर स्थल क्रीड़ालय है। मैंने और मेरी बुआके लड़केने मिलकर पटाके कमरेके अंदर ही छोड़ने शुरू किये। सहसा मेरे एक सम्बन्धीका बच्चा हाथमें ताराबत्ती लिये कमरेमें आ घुसा और लगा उसे घुमाने। कमरेकी अलगनीपर रेशमी तथा ऊनी वस्त्र और शाल लटक रहे थे। एक चिनगारी उनको छू गयी और बात-की-बातमें धू-धूकर सारे कपड़े जल गये। बच्चा होनेके कारण मैं आग बुझानेमें असमर्थ था, इसलिये 'लाय-लाय' कहकर मैं चिल्लाया। मेरी आवाज सुनकर मेरी फूफी आयी और उसने मटके भर पानीसे आग बुझायी। कपड़े सब जल चुके थे। मेरे फूफाजी स्टेशनपर अपनी ड्यूटीपर थे। वे आये। अपनी गाढ़ी कमाईसे खरीदी हुई चीजोंका हाल देखा और सिर्फ इतना ही कहा—'जल गयी तो जल गयी। बच्चोंको पीटनेसे या भाग्यको कोसनेसे क्या होता है।'

उनके ये वचन मुझे आज भी स्मरण हैं। ५००) ६००) रु०का माल नष्ट होता देखकर भी जिसने उफतक न किया वह देवता नहीं तो और क्या है !

—सुन्दरलाल बोहरा

(१०)

परमिट

तीन दिनोंसे लगातार वर्षा हो रही थी। आज लोगोंने सूर्य-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त किया। साइकल मरम्मतके लिये दी हुई होनेसे आज मैं पैदल चलकर ही आफिस पहुँचा और क्लर्कोंके सलाम स्वीकार कर अपनी कुरसीपर बैठ गया। कुछ ही देरमें एक गरीब-सा दीखनेवाला आदमी आया। उसने सीधे मेरे पास कहा—'बाबूजी ! परमिट काट दीजिये न। घरमें जगह-जगह पानी चू रहा है, घर जलसे भर गया है।' वह आशाभरी नजरसे मेरी ओर देखता रहा, मैंने कहा—'अर्जी दो, दो-एक-दिनमें मिल जायगा।' उसने लाचारी भरे गुस्सेसे कहा—'बाबूजी ! अर्जी तो कितनी ही, कितनी ही बार दी जा चुकी है; परंतु न तो परमिट ही मिलता है, न कोई उत्तर ही।' मैंने कहा—'भाई ! तुम्हारी सारी अर्जियाँ, पता नहीं, कहाँ बह जायँगी और तुम्हें इस चौमासेमें आवश्यक सीमेंट अगले दो चौमासे बीत जानेपर भी नहीं मिलेगा।' वह एकदम निराश हो गया। मैंने फिर कहा—'यों अर्जियाँ देनेसे परमिट कभी नहीं मिलेगा। दो पाँच रुपये हो तो निकालो, अभी परमिट काट दूँ।' वह निराश मुख धीरे-धीरे चलकर आफिससे बाहर निकल गया। मैं भी अपने रोजके काममें लग गया।

कुछ ही समय बाद एक बड़ी तोंदवाले सेठजी आये। मैं तुरंत उन्हें लेने सामने गया और मैंने कहा—'आपने क्यों तकलीफ की, कहला दिया होता तो मैं ही आपके घर आ जाता।'

'तकलीफ क्या है भाई! घरकी ओर जा रहा था तो मनमें आया कि चलो भाईकी खबर पूछ आऊँ।'

'आपकी कृपा है।'

'ठीक है भाई, पर अपनी उन ५० बोरियोंका क्या हुआ?' सेठ आखिर मुद्देकी बातपर आ गये।

'तैयार ही है, आप न आये होते तो मैं स्वयं आकर आपको दे जाता।' मैंने विनयके साथ कहा।

'मैं तुम्हें भूलूँगा नहीं, अपनी रकम कल बँगलेसे ले आना।' सेठजीने कहा। तथा वे मुसकराते हुए आफिससे बाहर चले गये। मैं उन्हें पहुँचाने कारतक गया। सेठने मुझे फिर परमिटकी याद दिलायी और देखते-ही-देखते उनकी कार धूल उड़ाती हुई अदृश्य हो गयी।

शामको काम निपटाकर मैं बाहर निकला और टहलता हुआ चलने लगा। सेठसे मिलनेवाले पैसोंको किस काममें लगाया जाय—मेरा मन इसीकी उधेड़-बुनमें लगा था। आकाशमें मेघराजने अपनी सृष्टि-रचना आरम्भ की। कुछ ही क्षणोंमें गाज-बीजके साथ बरसात शुरू हो गयी। भाग्यकी बात, आज मैं छत्ता भी घर भूल आया था। इतनेमें आशाकी किरण-सरीखी सेठकी कार आती दिखायी दी। मैंने हाथ उठाकर कार रुकवायी और कहा कि 'घरकी ओर जाते हों तो मुझे ले चलें।' सेठने कहा—'दुःख है, मुझे दूसरे काम जाना है।' और रास्तेके कीचड़को उछालती हुई सेठकी कार पूरी चालसे चली गयी। मैंने सेठकी कारको अपने घरकी ओर मुड़ते दूरसे देखा। मेरे मनमें सेठके प्रति छिपा तिरस्कार पैदा हो गया। सेठके विचारोंको छोड़कर मैंने देखा तो मैं पूरा भींग गया था। चलते रहनेसे सर्दी लगनेका डर था, इसलिये मैंने रास्तेसे एक ओर जाकर एक घरके छप्परके नीचे आश्रय लिया। 'बाबूजी! अंदर चले आइये न, आपका ही घर है।' घरके मालिककी प्रेमभरी आवाज सुनायी दी। मैंने देखा—जिसको मैंने दिनमें आफिससे फटकारकर निकाल दिया था, वही इस समय अपने घर-में बड़े प्रेमसे मेरा स्वागत कर रहा है।

मुझे बड़ी शरम आयी। मैं अंदर चला गया। देखा तो आधे घरमें पानी भर रहा था। एक ओर जरा सी सूखी जगहमें एक बच्चा सोया था। वर्षा अभी मूसलधार बरस रही थी। छत जगह-जगहसे चू रही थी। मकान-मालिककी आवाज सुनकर मैं विचार-तन्द्रा-से जागा। वे कह रहे थे—'बाबूजी! आप भींगे कपड़े बदल लीजिये, नागजीकी माँ अभी भींगे कपड़ोंको सुखा लायेगी।' उन्होंने मुझे एक धोती दी, मैंने अपने भींगे कपड़े बदले। थोड़ी ही देर बाद वे भाई गरम दूधका प्याला भरकर लाये और बड़ा आग्रह करके मुझे पिला दिया। कुछ समयके पश्चात् वर्षा बंद हो गयी। उनकी पत्नीने मेरे कपड़े ला दिये। कपड़े पूरे सूख नहीं पाये थे, पर मैंने उनको पहन लिया। मैं चलने लगा, तब 'जरा ठहरिये, मैं आपके साथ चलता हूँ। रात बहुत बीत गयी है।'—यों कहकर लाठी और लालटेन लेकर वे भाई मेरे साथ हो लिये। उनकी इस मृदुताने, अपकारके बदले उपकारने मुझे विचारोंमें डाल दिया। उस दिनका सारा दृश्य मेरी आँखोंके सामने खड़ा हो गया।

'तुम्हारे-जैसे गरीब आदमीको परमिट मिलना मुश्किल है'—आदि मेरे अपमानके वचन और दीन-भावसे मेरी ओर देखती हुई उनकी मूर्ति मेरे सामने खड़ी हो गयी। उनके प्रति इस प्रकारका बर्ताव करने-के लिये मेरा मन पश्चात्तापसे भर गया। मैं विचार करने लगा—'क्या यह गरीब है? इसकी जान-पहचान नहीं

थी, इसीसे मैंने इसको फटकार बताकर निकाल दिया ! क्या यह गरीब मनुष्य नहीं है ? क्या इसको सीमेंटकी जितनी जरूरत है, उतनी उस सेठको है ! सीमेंट जहाँ इसकी अनिवार्य आवश्यकता है, वहाँ वह सेठ तो शायद सीमेंटका उपयोग नयी कोठी बनानेमें ही करता । इसको सीमेंट न मिले और कदाचित् बरसाती हवाका असर इसके बच्चेपर हो तथा वह बीमार पड़ जाय तो यह बेचारा दवाके पैसे कहाँसे लायेगा ?'—इन विचारोंमें घर कब आ गया, इसका भी मुझे पता नहीं लगा । घरकी सीढ़ियोंपर चढ़ते हुए मैंने उनसे कहा—'अपना सीमेंटका परमिट कल अवश्य ले जाइयेगा ।' वे हर्षसे गद्गद हो गये और मेरे पैरों पड़ने लगे । मैंने उनको तुरंत उठाकर कहा—'न तो मेरे पैरों पड़नेकी आवश्यकता है, न आभार माननेकी । आपने ही मुझको अपने सच्चे कर्तव्यका ज्ञान करवाया है ।' उन्होंने कहा—'महाशयजी ! मैं तो केवल निमित्त हूँ, होता तो सब कुछ ईश्वरकी इच्छासे है । वह प्रसन्न होता अपने घर लौट गया । आज मैं पहली बार खूब गहरी नींद सोया । दूसरे दिन मैंने सेठकी ५० बोरियोंका परमिट रद कर दिया !

—जशवंत शायर

(११)

सहृदयता

एक सच्ची घटना है और इसी जनपदमें घटी हुई है । बात उन दिनोंकी है, जब जमींदारी प्रथाका बोल-बाला था । बड़े-बड़े जमींदारोंने अपनी जमींदारीके गाँवों तथा मनुष्योंसे सम्पर्क न रखनेको ही बड़प्पन मान रक्खा था । ऐसे ही वातावरणमें पले एक बहुत बड़े जमींदार सज्जनका जवान लड़का एक दिन प्रातःकाल टहलता हुआ अपने कलमी पेड़ोंके एक बड़े बगीचेके सामने आ पहुँचा । बगीचेके रक्षक तरह-तरहके कीमती पेड़ोंको दिखलाने लगे और उनके नाम और गुणका विवेचन करने लगे । वह युवक टहलता हुआ वाटिकाके एक किनारे जा पहुँचा, जहाँ वाटिकाका घेरा समाप्त होता था और किसी दूसरेका खेत शुरू होता था । उस खेतमें गेहूँ बोया था । वाटिकाके समीप पेड़ोंकी छायामें गेहूँके पौधे एक बित्तेसे अधिक नहीं बढ़ पाये थे, पर दूसरी ओर जहाँ वाटिकाके पेड़ोंकी छाया नहीं पड़ती थी, गेहूँ ऊँचे और सुपुष्ट थे । उस युवकने रक्षकोंसे पूछा—'क्यों उधरके पौधे बड़े हैं तथा इधर हमारे बगीचेके बगलके छोटे एवं बेजान हैं ?' रक्षकोंने बतलाया 'हुजूर ! पेड़ोंके करीब उनकी धाँध मारती हैं, जिससे पौधे कमजोर हैं ।' युवकने धाँधका अर्थ पूछा तब नौकरोंने बताया कि 'पेड़ोंकी छायासे इन्हें धूप नहीं मिलती, नमी रहती है तथा अपने पेड़ोंकी जड़ें खेतोंमें फैल गयी हैं, इससे जहाँतक छाया जाती है, वहाँतक उपज नहीं हो पाती ।' युवकने उस खेतके मालिकका नाम पूछा तो एक विधवा महिलाका नाम बतलाया गया । तब उसने कहा 'वह औरत कयामतके दिन हमसे यह सब वसूल करेगी, जो हमारी वजहसे उसका नुकसान हो रहा है । अफसोस, वालिदने इसपर खयाल नहीं किया !' उसने उस ओरके पेड़ोंको तुरंत काटनेकी आज्ञा दी । नौकरोंने सेमल आदिके पेड़ तो काटकर गिरा दिये; किंतु 'फलदार बहुमूल्य पेड़ोंको काटनेसे बड़ा नुकसान होगा'—कहकर रुक गये । किंतु युवकने उनकी एक न सुनी और सब पेड़ कटवा दिये । इतना ही नहीं, गल्लेका हिसाब लगाकर खेतवाली महिलाके घर भिजवा दिया । इस तरह कलियुगमें सत्ययुगका उदय हो गया । बहुतसे लोगोंने इससे प्रेरणा प्राप्त की ।

—गणपतिकृष्ण त्रिपाठी

श्रीहरिः

कल्याणके गत वर्षोंके सचित्र, सुन्दर और शिक्षाप्रद मासिक अङ्कोंके दामोंमें भारी रियायत (डाकखर्च मुफ्त)

वर्ष १९	अङ्क	१०, ११, १२	मूल्य	१३	नये	पैसे	प्रति अङ्क
वर्ष २१	,,	९, १०, ११, १२	,,	१३	,,	,,	,,
वर्ष २२	,,	११	,,	१३	,,	,,	,,
वर्ष २३	,,	११	,,	१३	,,	,,	,,
वर्ष २५	,,	२, ८, १२	,,	१३	,,	,,	,,
वर्ष २६	,,	२, ४, ९, १०	,,	१३	,,	,,	,,
वर्ष २७	,,	२, ४, १०, ११, १२	,,	१३	,,	,,	,,
वर्ष २९	,,	१०, ११, १२	,,	१३	,,	,,	,,
वर्ष ३०	,,	२, ३, ४, ५, ६, ७, ११, १२	,,	१३	,,	,,	,,
वर्ष ३१	,,	२, ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १२	,,	१३	,,	,,	,,

उपर्युक्त कुल ४१ अङ्क एक साथ लेनेपर केवल ५) दाम और ५० नया पैसा रजिस्ट्री-खर्च—कुल ५)५० न० पै०

व्यवस्थापक—कल्याण,
पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

The Kalyana-Kalpataru

(ENGLISH EDITION OF THE KALYANA)

Old monthly issues for sale at highly reduced price, Postage Free.

VOL. 1	Issues	Nos. 2 to 12	PRICE	13 N. P. Each.
VOL. 2	,,	Nos. 2 and 5 to 12	,,	13 N. P. ,,
VOL. 10	,,	Nos. 2 and 4 to 12	,,	13 N. P. ,,
VOL. 12	,,	Nos. 2 to 12	,,	13 N. P. ,,
VOL. 13	,,	Nos. 2 to 12	,,	13 N. P. ,,
VOL. 14	,,	Nos. 2 to 12	,,	13 N. P. ,,
VOL. 20	,,	Nos. 2 to 12	,,	13 N. P. ,,
VOL. 21	,,	Nos. 1 to 4		

All 78 issues in one lot price 9/50 NP. plus registration charge 50 NP., total 10/- only.

MANAGER, 'KALYANA-KALPATARU'
P. O. Gita Press (Gorakhpur)

रजि० ए० सं० १७५

सावधान

एक सज्जन लिखते हैं कि "कोई शिवराम शर्मा नामक व्यक्ति 'कल्याण'के सम्पादन-विभागसे अपना सम्बन्ध बतलाते हैं और 'कल्याण' शीर्षक लेखोंके लेखक 'शिव' भी वे अपनेको कहते हैं। वे भूत-प्रेत तथा यन्त्र-मन्त्रादिका प्रचार करते हैं और जनतासे रुपये-कपड़े आदि लेते हैं।" इसपर निवेदन है कि यह बात कहाँतक सत्य है, इसको तो हम नहीं जानते। परंतु हम 'कल्याण'के प्रत्येक पाठकको सावधान करते हैं कि कल्याणके सम्पादन-विभागसे किसी भी शिवराम शर्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है; 'कल्याण' शीर्षक लेखोंके लेखक 'शिव' कल्याण-सम्पादन-विभागके ही सदा 'कल्याण'में रहनेवाले एक सज्जन हैं। वे बाहरके व्यक्ति नहीं हैं। अतएव उपर्युक्त सरासर झूठ बातपर कोई सज्जन विश्वास न करें, न कोई 'कल्याण' के नामपर किसीको कुछ रुपये-पैसे ही दें।

सम्पादक—'कल्याण'

श्रीघनश्यामदासजी जालान!

गीताप्रेस-साहित्यके तथा कल्याणादिके प्रकाशक भाई श्रीघनश्यामदासजी जालानका गत ज्येष्ठ शुक्ल ६ शनिवारको गीता-भवन, स्वर्गाश्रममें पवित्र गङ्गातटपर देहावसान हो गया। संसारके प्राणी-पदार्थोंसे उपरत-चित्त घनश्यामदासजीने सैकड़ों सत्सङ्गियोंद्वारा होती हुई भगवन्नामकी तुमुल ध्वनिके बीच तथा हमारे परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी सन्निधिमें शरीर छोड़ा। उनका शरीर-त्याग एक ईर्ष्याकी वस्तु था। उनके देहावसानसे गीताप्रेसका एक महान् निःस्वार्थ कार्यकर्त्ता चला गया, जिसके स्थानकी पूर्ति सर्वथा असम्भव है। गोरखपुरमें गीताप्रेसकी स्थापना आपके ही कारण तथा आपके ही प्रयत्नसे हुई थी। गीताप्रेसके साथ इतना तादात्म्य हो गया था कि मानो वे मूर्तिमान् गीताप्रेस थे। गीताप्रेसके छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े कार्यसे आपका शरीरके अवयवों तथा क्रियाओंके सदृश अभिन्न क्रियात्मक सम्बन्ध था। इस दृष्टिसे गीताप्रेससे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति-मात्रको उनके देहावसानसे दुःख होना स्वाभाविक है। हमलोगोंके तो वे चिर साथी, सहायक, मित्र, बन्धु, स्नेही तथा सब कुछ थे। अतः उनका वियोग सर्वथा अवाञ्छनीय है। परंतु वास्तवमें नाम-रूपात्मक देहका वियोग न तो आत्माका मरण है, न शोकका कारण ही। फिर, जिनकी सफल मृत्यु होती है—जिसके लिये मानव-जीवनकी प्राप्ति हुई, उसकी सिद्धि करा देनेवाली मृत्यु होती है—वह तो आनन्दप्रद ही होती है। जो जन्मा है, वह मरेगा ही। क्षणभंगुर शरीर तो नाश होनेवाली वस्तु है ही। पर जिसने जीवनकी परमसिद्धि भगवान्‌की सन्निधि प्राप्त कर ली, उसका शरीरपात सफल-जीवनका ही एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग होता है। श्रीघनश्यामदासजीके सम्बन्धमें मेरे विश्वासके अनुसार यही सत्य है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

मानवता-अङ्क

'कल्याण'के आगामी विशेषाङ्क 'मानवता-अङ्क' के लिये मानवताके सच्चे दर्शन करानेवाली—दया प्रेम, करुणा, अहिंसा, सत्य, त्याग, परोपकार, सेवा, अनासक्ति, ईश्वरभक्ति आदि गुणोंको प्रत्यक्ष कराने-वाली नयी-नयी प्राचीन या अर्वाचीन, भारतीय या अन्यदेशोंकी छोटी-छोटी सच्ची घटनाएँ लिखकर भेजनेकी कृपा करें। घटनाएँ हिंदी, बंगला, गुजराती, अंग्रेजी—किसी भी भाषामें लिखकर भेज सकते हैं।

—सम्पादक